ओ३म्

धर्मशिक्षक

यह पुस्तक
आर्य्यप्रदेशक प्रतिनिधि सभा
पंजाब सिंध व बलोचिस्तान
की
आज्ञानुसार
श्रीस्वामीदयानन्दजी महाराज
के
सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में
से
आर्य्यस्कूलों में धर्मशिक्षाप्रचारार्थ
संकलन की गई है

ऐङ्गलो-संस्कृत यन्त्रालय में मुद्रित हुई ॥
सम्वत् १९६३

दूसरी बार संख्या १०००—कुल २००० मूल्य ।)

ईश्वरविषय

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ १ ॥

ऋ० ॥ मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥२॥

यजुः ॥ अ० ४० । मं० १ ॥

अहम्भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम ॥ ३ ॥ अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन । सोममिन्मासुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये-रिषाथन ॥ ४ ॥

ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४८ । मं० १ । २ ॥

(ऋचो अक्षरे) जो सब दिव्य गुण कर्म स्वभाव विद्या युक्त और जिसमें पृथिवी सूर्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है उसको जो मनुष्य न जानते न मानते और उसका ध्यान नहीं करते वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं इस लिये सर्वदा उसी

को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं। (प्रश्न) वेद में ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो वा नहीं? (उत्तर) नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों किन्तु यह लिखा है कि ईश्वर एक है (प्रश्न) वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं उसका क्या अभिप्राय है? (उत्तर) देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसी कि पृथिवी परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है देखो इसी मन्त्र में कि जिस में सब देवता स्थित हैं वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है, यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसी लिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय-कर्त्ता न्यायाधीश अधिष्ठाता है "त्रयस्त्रिंशत्त्रिशता०" इत्यादि वेदों में प्रमाण है कि इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि तेंतीस देव अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से ये आठ वसु। प्राण अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने बारह आदित्य इसलिये हैं कि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं। बिजुली का नाम इन्द्र इस हेतु से है कि परम ऐश्वर्य्य का हेतु है। यज्ञ को प्रजापति कहने का कारण यह है कि जिससे वायु वृष्टि जल ओषधी की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से देव कहाते हैं। इनका स्वामी और सबसे

बड़े होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्य देव शतपथ के चौदहवें कांड में स्पष्ट लिखा है इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर मानने रूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते ॥ १ ॥ हे मनुष्य ! जो कुछ इस संसार में जगत् है उस सबमें व्याप्त होकर जो नियन्ता है वह ईश्वर कहाता है उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर उस अन्याय को त्याग और न्यायाचरण रूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग !! २ ॥ ईश्वर सबको उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूं मैं सनातन जगत् कारण और सब धनों का विजय करने वाला और दाता हूं मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं वैसे पुकारें मैं सबको सुख देनेहारा जगत् के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिये करता हूं ॥ ३ ॥ मैं परमैश्वर्य-वान् सूर्य्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूं कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूं मैं ही जगत्रूप धन का निर्माता हूं सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले मुझ ही को जानो हे जीवो ! ऐश्वर्य्य प्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषण रूप स्तुति करने वाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन देता हूं मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा और मुझको वह वेद यथावत् कहता उससे सबके ज्ञान को मैं बढ़ाता मैं सत्पुरुष का प्रेरक यज्ञ करने हारे को फलदाता और इस विश्व में जो कुछ है उस सब कार्य्य का बनाने और धारण करने वाला हूं इसलिये तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो मत मानो और मत जानो ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० । अ० १३ । ४ ॥

यह यजुर्वेद का मन्त्र है—हे मनुष्यो ! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति स्थान आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा उसका स्वामी था, है और होगा वह पृथिवी से लेके सूर्य्यलोक पर्य्यन्त सृष्टि को बना के धारण कर रहा है उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें वैसे तुम लोग भी करो ॥ (प्रश्न) आप ईश्वर २ कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ? (उत्तर) सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से (प्रश्न) ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ? (उत्तर)—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

न्याय० । अ० १ । सू० ४ ॥

यह गोतम महर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र है—जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो । अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका

आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्का और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य्य को देखकर कारण का अनुमान होता है (प्रश्न) ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है ? (उत्तर) व्यापक है क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं होसक्ता अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का असम्भव है (प्रश्न) परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं (उत्तर) है (प्रश्न) यह दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुंचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना (उत्तर) न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है

वही दया से, दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो वही दया कहाता है जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश होजाय क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार होसक्ती है दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है (प्रश्न) फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है । (उत्तर) क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ? (प्रश्न) होते हैं (उत्तर) तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई (प्रश्न) संसार में सुनते हैं इसलिये (उत्तर) संसार में तो सच्चा झूठा दोनों सुनने में आता है परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है । देखो ईश्वर की पूर्ण दया यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की

व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फलको प्रकाशित कर रही है इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना (प्रश्न) ईश्वर साकार है वा निराकार ? (उत्तर) निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुणभी ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं होसक्ता इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होनेसे सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है (प्रश्न) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं ? (उत्तर) है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप का यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त

सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण करलेता है। (प्रश्न) हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (उत्तर) वह क्या चाहता है, जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् चोरी व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी होसक्ता है! जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म्म स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है यह कभी नहीं घट सक्ता इसलिये सर्वशक्तिमान शब्द का अर्थ जो हमने कहा वही ठीक है। (प्रश्न) परमेश्वर आदि है वा अनादि? (उत्तर) अनादि अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो उस को अनादि कहते हैं (प्रश्न) परमेश्वर क्या चाहता है? (उत्तर) सबकी भलाई और सब के लिये सुख चाहता है परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता॥

(प्रश्न) जब परमेश्वर के श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सक्ता है? (उत्तर):—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ३। मं० १९॥

परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सब से

अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं तथापि सबकी बात सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जानने वाला कोई भी नहीं उसी को सनातन सब से श्रेष्ठ सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के बिना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है (प्रश्न) उस को बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं? (उत्तर):–

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चा ऽभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ६। मं० ८॥

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उस को करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं न कोई उस के तुल्य और न अधिक है सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिस में अनन्त ज्ञान अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी है। (प्रश्न) जब वह क्रिया करता होगा तब अन्तवाली क्रिया होती होगी वा अनन्त? (उत्तर) जितने देश काल में क्रिया करनी उचित समझता है उतने ही देश काल में क्रिया करता है न अधिक न न्यून क्योंकि वह विद्वान् है। (प्रश्न) परमेश्वर अपना अन्त जानता है वा नहीं? (उत्तर) परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिस से ज्यों का त्यों जाना जाय अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो

उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है, परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानना ज्ञान, उस से विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहाता है "यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति" जिस का जैसा गुण कर्म स्वभाव हो उस पदार्थ को वैसा ही जान कर मानना ही ज्ञान और विज्ञान कहाता है उलटा अज्ञान इसलिये:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसू० समाधिपादे सू० २४ ॥

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित हैं वह सब जीवों से विशेष ईश्वर कहाता है

(प्रश्न) ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं क्योंकि "अज एकपात्" "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्" ये यजुर्वेद के वचन हैं इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता (प्रश्न):—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

भ० गी० अ० ४। श्लो० ७।

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि जब २ धर्म का लोप होता है तब २ मैं शरीर धारण करता हूं। (उत्तर) यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग २ में जन्म ले के श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं

क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः" परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन मन धन होता है तथापि इस से श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते। (प्रश्न) जो ऐसा है तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं और इन को अवतार क्यों मानते हैं? (उत्तर) वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रम जाल में फंस के ऐसी २ अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं। (प्रश्न) जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कैसे रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके? (उत्तर) प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं वह सर्वव्यापक होने से कंस रावणादि के शरीरों में परिपूर्ण हो रहा है जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण कर्म स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिये जन्म मरणयुक्त कहने वाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है? और जो कोई कहे कि भक्त जनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं क्योंकि जो भक्त जन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उन के उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी सूर्य्य चन्द्रादि जगत् का बनाने धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से कंस रावणादि का बध और गोवर्द्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो "न भूतो न भविष्यति" ईश्वर के सदृश कोई न है न होगा। और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में

आया वा मूठी में धर लिया ऐसा कहना कभी सच नहीं होसकता क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है इस से न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उस का आना जाना कभी सिद्ध नहीं होसकता। जाना वा आना वहां होसकता है जहां न हो क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा। इसलिये परमेश्वर का जाना आना जन्म मरन कभी सिद्ध नहीं होसकता इसलिये "ईसा" आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं ऐसा समझ लेना क्योंकि राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय शोक, दुःख, सुख, जन्म, मरण आदि गुणयुक्त होने से मनुष्य थे (प्रश्न) ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महा पापी हो जायें क्योंकि क्षमा की बात सुने तो उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जावे जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक २ बड़े २ पाप करें क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उन को भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है क्षमा करना नहीं॥

(प्रश्न) परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण (उत्तर) दोनों प्रकार है (प्रश्न) भला एक घर में दो तलवार कभी रह सकती हैं। एक

पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती हैं? (उत्तर) जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं इसलिये "यद्गुणैस्सह वर्त्तमानं तत्सगुणम्" "गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्" जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने २ स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिस में केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है। (प्रश्न) संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब निर्गुण और जब अवतार लेता है तब सगुण कहाता है? (उत्तर) यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है जिन को विद्या नहीं होती वे पशु के समान यथा तथा बड़बड़ाया करते हैं जैसे सन्निपातज्वरयुक्त मनुष्य अंडबंड बकता है वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिये (प्रश्न) परमेश्वर रागी है वा विरक्त? (उत्तर) दोनों में नहीं क्योंकि राग अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है इसलिये उस में राग का सम्भव नहीं और जो प्राप्त को छोड़ देवे उसको विरक्त कहते हैं ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता इसलिये विरक्त भी नहीं। (प्रश्न) ईश्वर में इच्छा है वा नहीं? (उत्तर)

वैसी इच्छा नहीं क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त उत्तम और जिस की प्राप्ति से सुख विशेष होवे उस की होती है तो ईश्वर में इच्छा हो सके न उस से कोई अप्राप्त पदार्थ न कोई उस से उत्तम और पूर्ण सुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है, इसलिये ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं किन्तु ईक्षण अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है वह ईक्षण है ॥

(नास्तिक) ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता जो कुछ होता है वह कर्म से। (आस्तिक) जो सब कर्म से होता है तो कर्म किस से होता है? जो कहो कि जीव आदि से होता है तो जिन श्रोत्रादि साधनों से जीव कर्म करता है वे किन से हुए? जो कहो कि अनादि काल और स्वभाव से होते हैं तो अनादि का छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभाववत् अनादि सान्त हैं तो बिना यत्न के सब के कर्म निवृत्त हो जायेंगे। यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज्यव्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भोगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्म संकर हो जायेंगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। (नास्तिक) ईश्वर अक्रिय है क्योंकि जो कर्म करता होता तो कर्म का फल भोगना पड़ता इसलिए जैसे हम केवली प्राप्त मुक्तों को अक्रिय मानते हैं वैसे तुम भी मानो। (आस्तिक) ईश्वर अक्रिय नहीं किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है तो कर्त्ता क्यों नहीं? और जो कर्त्ता है तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता। जैसा तुम कृ-

त्रिम, बनावट के ईश्वर तीर्थंकर को जीव से बने हुए मानते हो। इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता क्यों कि जो निमित्त से ईश्वर बने तो अनित्य और पराधीन हो जाय क्योंकि ईश्वर बनने के प्रथम जीव था पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना तो फिर भी जीव हो जायगा। अपने जीवत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकता क्योंकि अनन्त काल से जीव है और अनन्त काल तक रहेगा इसलिये इस अनादि स्वतः सिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है। देखो! जैसे वर्त्तमान समय में जीव पाप पुण्य कर्त्ता, सुख दुःख भोगता है वैसे ईश्वर कभी नहीं होता। जो ईश्वर क्रियावान् न होता तो इस जगत् को कैसे बना सकता? जो कर्मों को प्रागभाववत् अनादि सान्त मानते हो तो कर्म समवायसम्बन्ध से नहीं यह संयोगज होके अनित्य होता है। जो मुक्ति में क्रिया ही न मानते हो तो वे मुक्त जीव ज्ञान वाले होते हैं वा नहीं? जो कहो होते हैं तो अन्तः क्रिया वाले हुए क्या मुक्ति में पाषाणवत् जड़ हो जाते एक ठिकाने पड़े रहते और कुछ भी चेष्टा नहीं करते तो मुक्ति क्या हुई किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये। (नास्तिक) ईश्वर व्यापक नहीं है जो व्यापक होता तो सब वस्तु चेतन क्यों नहीं होतीं? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की उत्तम, मध्यम, निकृष्ट अवस्था क्या हुई? क्योंकि सब में ईश्वर एकसा व्याप्त है तो छुटाई बड़ाई न होनी चाहिये। (आस्तिक) व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते किन्तु व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। जैसे आकाश सब में व्यापक है और भूगोल और घट सब व्याप्य एकदेशी हैं जैसे पृथिवी आकाश एक नहीं वैसे ईश्वर और जगत् एक नहीं। जैसे सब घट पटादि में आकाश

व्यापक है और घट पटादि आकाश नहीं, वैसे परमेश्वर चेतन सब में है और सब चैतन नहीं होता, जैसे विद्वान् अविद्वान् और धर्मात्मा अधर्मात्मा बराबर नहीं होते, विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाऽधिक होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज बड़े छोटे माने जाते हैं (नास्तिक) जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती तो माता पिता आदि का क्या काम? (आस्तिक) ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है जैवी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं उन को ईश्वर नहीं करता किन्तु जीव ही करता है। जैसे वृक्ष, फल, औषधि अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है उस को ले कर मनुष्य न पीसें, न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें तो क्या ईश्वर उस के बदले इन कामों को कभी करेगा? और जो न करें तो जीव का जीवन भी न हो सके इस लिये आदि सृष्टि में जीव के शरीरों और सांचे को बनाना ईश्वराधीन पश्चात् उन से पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है। (नास्तिक) जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्दज्ञान स्वरूप है तो जगत् प्रपंच और दुःख में क्यों पड़ा? आनन्द छोड़ दुःख को ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता ईश्वर ने क्यों किया? (आस्तिक) परमात्मा किसी प्रपंच और दुःख में नहीं गिरता न अपने आनन्द को छोड़ता है क्योंकि प्रपंच और दुःख में गिरना जो एकदेशी हो उस का हो सकता है सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य

नहीं इस से यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है वैसे माता पिता रूप निमित्तकारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है। (नास्तिक) ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् की सृष्टिकरण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा? (आस्तिक) ईश्वर सदा मुक्त होने से तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए तीर्थंकरों के समान एक देश में रहने हारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त सनातन परमात्मा नहीं है। जो अनन्त स्वरूप गुण कर्म स्वभाव युक्त परमात्मा है वह इस किंचिन्मात्र जगत् को बनाता धरता और प्रलय करता हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं, जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो कभी बद्ध नहीं था वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता है? और जो एकदेशी जीव हैं वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त सर्वदेशी, सर्वव्यापक, ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में जैसे कि तुम्हारे तीर्थंकर हैं कभी नहीं पड़ता। इस लिये वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है। (नास्तिक) जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं जैसे भांग पीने के मद को स्वयमेव भोगता है। इस में ईश्वर का काम नहीं। (आस्तिक) जैसे बिना राजा के डाकू लंपट चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी वा कारागृह में नहीं जाते न वे जाना चाहते हैं किन्तु राज्य की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ा कर यथोचित राजा दण्ड देता है इसी प्रकार जीव को भी ईश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से स्वस्वकर्मानुसार यथायोग्य दण्ड देता है क्योंकि कोई भी

जीव अपने दुष्ट कर्मों के फल भोगना नहीं चाहता इसलिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये। (नास्तिक) जगत् में एक ईश्वर नहीं किन्तु जितने मुक्त जीव हैं वे सब ईश्वर हैं। (आस्तिक) यह कथन सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं, जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थंकर पहिले बद्ध थे, पुनः मुक्त हुए फिर भी बन्ध में अवश्य गिरेंगे और जब बहुत से ईश्वर हैं तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते भिड़ते फिरते हैं वैसे ईश्वर भी लड़ा भिड़ा करेंगे। (नास्तिक) हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं किन्तु जगत् स्वयं सिद्ध है (आस्तिक) यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है। भला बिना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य्य जगत् में होता दीखता है! यह ऐसी बात है कि जैसे गेहूं के खेत में स्वयं सिद्ध पिसान रोटी बनके जैनियों के पेट में चली जाती हो! कपास सूत कपड़ा अङ्गरखा दुपट्टा धोती पगड़ी आदि बनके कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के बिना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना विशेष कैसे बन सकती? जो हठ धर्म से स्वयं सिद्ध जगत् को मानो स्वयं सिद्ध उपरोक्त वस्त्रादिकों को कर्त्ता के बिना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते पुनः तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान् मान सकता है (नास्तिक) ईश्वर विरक्त है वा मोहित? जो विरक्त है तो जगत् के प्रपंच में क्यों पड़ा? जो मोहित है तो जगत् के बनाने को समर्थ नहीं हो सकेगा। (आस्तिक) परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता, क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह किस को

छोड़े और किस को ग्रहण करे । ईश्वर से उत्तम वा उस को अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है इसलिये किसी में मोह भी नहीं होता वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है ईश्वर में नहीं। (नास्तिक) जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता और जीवों के फलों का दाता मानोगे, तो ईश्वर प्रपंची होकर दुःखी हो जायेगा (आस्तिक) भला अनेकविध कर्मों का कर्त्ता और प्राणियों को फलों का दाता धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फँसता न प्रपंची होता है तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्य वाला प्रपंची और दुःखी क्योंकर होगा? हां तुम अपने और अपने तीर्थंकरों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ, क्यों भ्रम में पड़े पड़े ठोकरें खाते हो?

वेद विषयः

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः। अथर्व० कां १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २०॥

जिस परमात्मा के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं वह कौन सा देव है? इस का (उत्तर) जो सब को उत्पन्न करके धारण कर रहा है वह परमात्मा है॥

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेदद्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है। (प्रश्न) परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार? (उत्तर) निराकार मानते हैं (प्रश्न) जब निराकार है तो वेदविद्या का उपदेश बिना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये। (उत्तर) परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है कानों को अंगुलियों से मूंद के देखो सुनो कि बिना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानों के कैसे २ शब्द हो रहे हैं, वैसे जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण करनेकी आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आसकता। (प्रश्न)

किन के आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ? (उत्तर) :—

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः

शत० ११ । ४ । २ । ३ ॥

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक २ वेद का प्रकाश किया । (प्रश्न) :—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥ श्वेताश्व० अ० ६ । मं० १८ ॥

इस वचन से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्या कहा ? (उत्तर) ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया, देखो ! मनु में क्या लिखा है :—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥

मनु० १ । २३ ॥

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न कर के अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा से ऋग्यजुः साम अथर्ववेद का ग्रहण किया । (प्रश्न) उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं इससे ईश्वर पक्षपाती होता है । (उत्तर) वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे अन्य उनके सदृश नहीं थे इसलिये पवित्र विद्या

का प्रकाश उन्हीं में किया (प्रश्न) किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया ? (उत्तर) जो किसी देश भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती होजाता क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने पढ़ाने की होती इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है उसीमें वेदों का प्रकाश किया जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिये एकसी और सब शिल्पविद्या का कारण है वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एकसी होनी चाहिये कि सब देशवालों को पढ़ने पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता। और सब भाषाओं का कारण भी है । (प्रश्न) वेद ईश्वरकृत हैं अन्यकृत नहीं इस में क्या प्रमाण ? (उत्तर) जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत अन्य नहीं और जिस में सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहितज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त, जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टिकार्य्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिस में होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो इस प्रकार के वेद हैं अन्य बाइबल कुरान आदि

पुस्तकें नहीं। (प्रश्न) वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे। (उत्तर) कभी नहीं बना सकते, क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देख कर भी विद्वान् नहीं होते और जब उन को कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी किसी से पढ़े बिना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेद विद्या न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् ही रहजाते, जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश अविद्वानों वा पशुओं के सङ्ग में रख देवे तो वह जैसा सङ्ग है वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं जबतक आर्य्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी तबतक मिश्र यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी और यूरोप के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जबतक नहीं गये थे तबतक वे भी सहस्रों लाखों क्रोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं, वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

योगसू० समाधिपादे सू० २६॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए

अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता उसका ज्ञान नित्य है इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि बिना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता। (प्रश्न) वेद संस्कृत भाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे फिर वेदों का अर्थ उन्हों ने कैसे जाना? (उत्तर) परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २ के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुए तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ प्रकाश हुआ तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहास पूर्वक ग्रंथ बनाये उन का नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ और :—

ऋषयोमन्त्रदृष्टयःमन्त्रान्सम्प्राददुः। निरु०१।२०

जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस २ ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिस के पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था किया और दूसरों को पढ़ाया भी इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उन को मिथ्यावादी समझें वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं। (प्रश्न) वेद किन ग्रंथों का नाम है? (उत्तर) ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का अन्य का नहीं (प्रश्न) :—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥

इत्यादि कात्यायनादिकृत प्रतिज्ञासूत्रादि का अर्थ क्या करोगे? (उत्तर) देखो संहिता पुस्तक के आरम्भ अध्याय की समाप्ति में वेद यह सनातन से शब्द लिखा आता है और ब्राह्मण पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा और निरुक्त में:--

इत्यपि निगमो भवति। इति ब्राह्मणम्। नि० अ० ५। खं० ३। ४॥ छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥ अष्टाध्या० ४। २। ६६॥

इस से भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मंत्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है इस में जो विशेष देखना चाहें तो "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में देख लीजिये वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता ऐसा ही सिद्ध किया गया है क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत से ऋषि महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं और इतिहास जिसका हो उस के जन्म के पश्चात् लिखा जाता है वह ग्रन्थ भी उस के जन्म के पश्चात् होता है वेदों में किसी का इतिहास नहीं किन्तु विशेष जिस २ शब्द से विद्या का बोध होवे उस २ शब्द का प्रयोग किया है किसी मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं। (प्रश्न) वेदों की कितनी शाखा हैं? (उत्तर) ग्यारह सौ सत्ताईस। (प्रश्न) शाखा क्या कहाती हैं? (उत्तर) व्याख्यान को शाखा कहते हैं। (प्रश्न) संसार में

विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं ? (उत्तर) तनिक सा विचार करो तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखा हैं वे आश्वलायन आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं जैसा चारों वेदों को परमेश्वर कृत मानते हैं वैसे आश्वलायनी आदि शाखाओं को उस २ ऋषिकृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धर के व्याख्या करते हैं, जैसे तैत्तिरीय शाखा में "इषे त्वोर्जेत्वेति" इत्यादि प्रतीकें धर के व्याख्यान किया है और वेद संहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी इसलिये परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष और आश्वलायनी आदि सब शाखा ऋषि मुनिकृत हैं परमेश्वरकृत नहीं जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहें वे "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में देख लेवें जैसे माता पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है जिस से मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूट कर विद्या विज्ञानरूप सूर्य्य को प्राप्त हो कर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें। (प्रश्न) वेद नित्य हैं वा अनित्य? (उत्तर) नित्य हैं क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण कर्म स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं। (प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है? (उत्तर) नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है वह नित्य कैसे हो सकता है? किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य हैं। (प्रश्न) ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना

लिये होंगे? (उत्तर) ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता गायत्र्यादि छन्द षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सके हां वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि ग्रंथ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उस को मानते हैं ॥

सृष्टिविषय

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १ ॥

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ २ ॥ ऋ० मं० १०। सू १२१। मं० ७। ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ४ ॥ यजुः अ० ३१ । मं० २ ॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥ ५ ॥ तैत्तिरीयोपनि० भृगुवल्ली । अनु० १ ॥

हे (अङ्ग) मनुष्य! जिस से यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है जो धारण और प्रलय करता है जो इस जगत् का स्वामी जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्तिस्थिति प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है उस को तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत जान ॥ १ ॥ यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत रात्रिरूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्य्यरूप कर दिया ॥ २ ॥ हे मनुष्यो! जो सब सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा उस का एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिस ने पृथवी से ले के सूर्य्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति

किया करें ॥ ३ ॥ हे मनुष्यो ! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है ॥ ४ ॥ जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिस से जीव और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं वह ब्रह्म है उस के जानने की इच्छा करो ॥ ५ ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ शारीरक सू० अ० १ पा० १ सू० २ ॥

जिस से इस जगत् का जन्म स्थिति और प्रलय होता है वही ब्रह्म जानने योग्य है (प्रश्न) यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से ? (उत्तर) निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है परन्तु इस का उपादान कारण प्रकृति है। (प्रश्न) क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ? (उत्तर) नहीं, वह अनादि है। (प्रश्न) अनादि किस को कहते और कितने पदार्थ अनादि हैं ? (उत्तर) ईश्वर, जीव और जगत् का कारण यह तीन अनादि हैं। (प्रश्न) इस में क्या प्रमाण है (उत्तर):—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २० ॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से सदृश

(सयुजा) व्याप्य व्यापकभाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रता युक्त सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसाही (वृक्षम्) अनादि मूलस्वरूप कारण और शाखारूप कार्य्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न होजाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनोंके गुण कर्म्म और स्वभाव भी अनादि हैं इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हूआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है जीव से ईश्वर ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तीनों अनादि हैं ॥ १ ॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥२॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वेताश्वतरोपनिषदि । अ० ४ । मं० ५ ॥

प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं इनका कारण कोई नहीं इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है। ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वरविषय में कह आये अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं:—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ सांख्यसूत्र० । अ० १ सू० ६१ ।

(सत्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक सङ्घात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महतत्त्व बुद्धि उससे अहङ्कार उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांचभूत ये चौबीस और पचीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है इन में से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व अहङ्कार तथा पाञ्च सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूल भूतों का कारण है पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण और न किसी का कार्य्य है।

(प्रश्न) जगत् के कारण कितने होते हैं? (उत्तर) तीन, एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। निमित्त कारण उस को कहते हैं कि जिसने बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने आप स्वयं बने नहीं दूसरे को प्रकारान्तर बनादेवे। दूसरा उपादान कारण उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तररूप होके बने और विगड़े भी। तीसरा साधारण कारण उस को कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो निमित्त कारण दो प्रकार के हैं एक सब सृष्टि को कारण से बनाने धारण और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाले मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से

पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्य्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव। उपादान कारण प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं वह जड़ होने से आपसे आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं २ जड़ के निमित से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है। जब कोई वस्तु बनाई जाती है तब जिन २ साधनों से अर्थात् ज्ञान दर्शन बल हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशाकाल और आकाश साधारण कारण जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मट्टी उपादान, और दण्ड चक्र आदि सामान्य निमित्त दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान क्रिया आदि निमित्त साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है (प्रश्न) नवीन वेदान्ति लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं :—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। मुण्डकोपनि मुं० १। खं० १। मं० ७॥

यह उपनिषद् का वचन है। जैसे मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आपही उस में खेलती है वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना

आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहु रूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊं सङ्कल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया क्योंकिः—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा॥ गौडपादीय कारिका श्लो० ३१॥

यह मांडूक्योपनिषद् पर कारिका है। जो प्रथम न हो अंत में न रहे वह वर्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था ब्रह्म था प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं? (उत्तर) जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जावे और उपादान कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य्य में आते हैंः—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः॥ वैशेषिक अ० २। आ० १। सू० २४॥

उपादान कारण के सदृश कार्य्य में गुण होते हैं तो ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप जगत्कार्य्यरूप से असत् जड़ और आनन्द रहित ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य्य उत्पन्न होवे तो पृथिव्यादि में कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन है वैसा पृथिव्यादि कार्य्य भी चेतन होना चाहिये। और जो मकड़ी दृष्टान्त दिया वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है क्योंकि

वह जड़ रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बना कर बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है ॥

(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है? (प्रश्न) जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता। (उत्तर) यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं पुरुषार्थी की नहीं और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्यों कर भोग सकते? जो तुम से कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे देखना। तो जो ईश्वर में जगत की रचना करने का विज्ञान बल और क्रिया है उस का क्या प्रयोजन बिना जगत् की उत्पत्ति करने के? दूसरा कुछ भी न कह सकोगे और परमात्मा के न्याय धारण दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगत् को बनावे उस का अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब

जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है । (प्रश्न) बीज पहिले है वा वृक्ष ? (उत्तर) बीज क्योंकि बीज, हेतु निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है। (प्रश्न) जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता ? (उत्तर) सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख आये हैं परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा कारण के बिना कार्य्य को कर सकता है तो बिना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये परिवर्त्तन नहीं कर सकता इसलिये सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी के सहाय के अपने सब कार्य्य पूर्ण कर सकता है । (प्रश्न) ईश्वर साकार है वा निराकार ? जो निराकार है तो बिना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और जो साकार है तो कोई दोष नहीं आता। (उत्तर) ईश्वर निराकार है, जो साकार अर्थात् शरीर युक्त है वह ईश्वर नहीं क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुदा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्ण, ज्वर, पीड़ादि सहित होवे उस में जीवके बिना ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीर

धारी हैं इस से त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक हस्त पादादि अवयवों से रहित है परन्तु उस की अनन्त शक्ति बल पराक्रम हैं उन से सब काम करता है जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते जब वह प्रकृति से भी सूक्षम और उन में व्यापक है तभी उन को पकड़ कर जगदाकार कर देता है। (प्रश्न) जैसे मनुष्यादि के मा बाप साकार हैं उनका संतान भी साकार होता है जो ये निराकार होते तो इन के लड़के भी निराकार होते वैसे परमेश्वर निराकार हो तो उस का बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये। (उत्तर) यह तुम्हारा प्रश्न लड़के के समान है क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है और जो स्थूल होता है वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है और वे सर्वथा निराकार नहीं किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं। (प्रश्न) क्या कारण के बिना परमेश्वर कार्य्य को नहीं कर सकता? (उत्तर) नहीं क्योंकि जिस का अभाव अर्थात् जो वर्त्तमान् नहीं है उसका भाव वर्त्तमान् होना सर्वथा असम्भव है जैसा कोई गपोड़ा हांक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा, वह नरशृङ्ग का धनुष और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे, मृगतृष्णा के जल में स्नान करते और गन्धर्व नगर में रहते थे वहां बद्दल के विना वर्षा पृथिवी के बिना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी वैसा ही कारण के बिना कार्य्य का होना असम्भव है जैसे कोई कहे कि "मम मातापितरौ

नस्तोऽहमेवमेव जातः । मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च" । अर्थात् मेरे माता पिता न थे ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूं मेरे मुख में जीभ नहीं है परन्तु बोलता हूं, बिल में सर्प न था निकल आया मैं कहीं नहीं था यह भी कहीं न थे और हम सब जने आये हैं ऐसी असम्भव बात प्रमत्त गीत अर्थात् पागल लोगों की है। (प्रश्न) जो कारण के बिना कार्य्य नहीं होता तो कारण का कारण कौन है ? (उत्तर) जो केवल कारणरूप ही हैं वे कार्य्य किसी के नहीं होते और जो किसी का कारण और किसी का कार्य्य होता है वह दूसरा कहाता है जैसे पृथिवी घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य्य होती है परन्तु जो आदि कारण प्रकृति है वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ सांख्यद० १ अ० १ । सू० ६७ ॥

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता इस से अकारण सब कार्य्यों का कारण होता है क्योंकि किसी कार्य्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं जैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रूई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है यदि इन में से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

(प्रश्न) इस जगत् का कर्त्ता न था न है और न होगा, किन्तु अनादिकाल से वह जैसा का वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होगा। (उत्तर) बिना कर्त्ता के कोई

भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता जो तुम इस को न मानो तो कठिन से कठिन पाषाण हीरा और पोलाद आदि तोड़ टुकड़ेकर गला वा भसमकर देखो कि इन में परमाणु पृथक् २ मिले हैं वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग २ भी अवश्य होते हैं ॥ १० ॥ (प्रश्न) अनादि ईश्वर कोई नहीं किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य्य को प्राप्त हो कर सर्वज्ञादि गुणयुक्त केवल ज्ञानी होता है वही जीव परमेश्वर कहाता है। (उत्तर) जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत् शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते। इनके बिना जीव साधन नहीं कर सकता जब साधन न होते तो सिद्ध कहां से होता ? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है जिसमें अनन्त सिद्धि हैं उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तोभी परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्यवाला कभी नहीं हो सकता। देखो कोई भी योगी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है और न होगा जैसे अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता, जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता। (प्रश्न) कल्प कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण २ बनाता है अथवा एकसी ? (उत्तर) जैसी कि अब है वैसी पहिले

थी और आगे होगी भेद नहीं करता—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ऋ० । मं० १० । सु० १९० । मं० ३ ॥

(धाता) परमेश्वर जैसे पूर्व कल्प में सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि को बनाता हुआ वैसे ही उसने अब बनाये हैं और आगे भी वैसे ही बनावेगा । इसलिये परमेश्वर के काम बिना भूल चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है उसी के काम में भूल चूक होती है ईश्वर के काम में नहीं ।

(प्रश्न) जब कारण के बिना कार्य्य नहीं होता तो कारण का कारण क्यों नहीं ? (उत्तर) अरे भोले भाईयो ! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते ? देखो संसार में दो ही पदार्थ होते हैं, एक कारण दूसरा कार्य्य । जो कारण है वह कार्य्य नहीं और जिस समय कार्य्य है वह कारण नहीं । जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता:—

नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्मानां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते ।

अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक् २ तत्त्वावयव विद्यामान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी २ अवस्था को सूक्ष्म स्थूल २ बनते बनाते विचित्ररूप बना है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है। भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलाने वाला पदार्थ है जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता उसको कारण और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता वह कार्य्य कहाता है। जो उस कारण का कारण, कार्य्य का कार्य्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन, और साध्य का साध्य कहाता है वह देखता अन्धा, सुनता बहिरा और जानता हुआ मूढ़ है। क्या आंख की आंख, दीपक का दीपक, और सूर्य्य का सूर्य्य कभी हो सकता है? जो जिस से उत्पन्न होता है वह कारण और जो उत्पन्न होता है वह कार्य्य और जो कारण का कार्य्यरूप बनाने हारा है वह कर्त्ता कहाता है॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

भगवद्गी० अ० २। १६॥

कभी असत् का भाव वर्त्तमान और सत् का अभाव अवर्त्तमान नहीं होता इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है अन्य पक्षपाती आग्रही मलिनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी

होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य! वे पुरुष हैं कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जनाते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं इस से जो कोई कारण के बिना सृष्टि मानता है वह कुछ भी नहीं जानता जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उस का नाम महत्तत्त्व और जो उस से कुछ स्थूल होता है उस का नाम अहङ्कार और अहङ्कार से भिन्न २ पांच सूक्ष्म भूत श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञान इन्द्रिय, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्म्म इन्द्रिय हैं और ग्यारवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूल भूत जिन को हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं उन से नाना प्रकार की ओषधियां वृक्ष आदि उन से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती क्योंकि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उन से जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है। देखो! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिस को विद्वान् लोग देख कर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा यकृत, फेफड़ा, पंखा कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम, नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के

भोगने के लिये स्थानविशेषों का निर्माण, सब धातुका विभाग-करण, कला, कोशल स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है ? इस के बिना नाना प्रकार के रत्न धातु से जटित भूमि, विविध प्रकार वट वृक्ष आदि के वीजों में अति सूक्षम रचना, असंख्य, हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल मूलनिर्माण, मिष्ट, क्षार, कटुक, कपाय तिक्त, अम्लादि विविधरस, सुगन्धादि युक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न कन्द मूलादि रचन, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल सूर्य चन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सक्ता। जब कोई किसी पदार्थ को देखता है तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है एक जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उसमें रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान है जैसा किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जङ्गल में पाया देखा तो विदित हूआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारी-गर ने बनाया है इसी प्रकार यह नाना प्रकार सृष्टि में विविध रचना बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करता है। (प्रश्न) मनुष्य की सृष्टि प्रथम हूई या पृथिवी आदि की ? (उत्तर) पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवीआदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता (प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अ-नेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या ? (उत्तर) अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ईश्वरीय सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उन का जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता क्योंकि "मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैंकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है

कि मनुष्य अनेक मा बाप की सन्तान हैं ॥

(प्रश्न) कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं ? (उत्तर) नहीं जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है इसकी आदि वा अन्त नहीं किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि अन्त होता रहता है। क्योंकि जैसे परमात्मा जीव जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्त्तमान प्रवाह से अनादि हैं। जैसे नदी का प्रवाह वैसाही दीखता है कभी सूख जाता कभी नहीं दीखता फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव, अनादि हैं वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकरना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं। (प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं, इस से परमात्मा में पक्षपात आता है। (उत्तर) पक्षपात नहीं आता क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता

(प्रश्न) मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई? (उत्तर) त्रिविष्टप अर्थात् जिसको "तिब्बत) कहते हैं (प्रश्न) आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक? (उत्तर) एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् "विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य विद्वान् देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए। "उत शूद्रे उतार्ये" अथर्ववेद वचन–आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ॥

-:०:-

पुनर्जन्मविषयः।

(प्रश्न) जन्म एक है वा अनेक? (उत्तर) अनेक। (प्रश्न) जो अनेक हों तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातोंका स्मरण क्यों नहीं। (उत्तर) जीव अल्पज्ञ है त्रिकालदर्शी नहीं इसलिये स्मरण नहीं रहता और जिस मन से ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये इसी देह में जब गर्भ में जीव था शरीर बना पश्चात् जन्मा पांचवें वर्ष से पूर्व तक जो २ बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और जाग्रत वा स्वपन में बहुत सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है तब जाग्रत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं करसकता? और तुम से कोई पूछें कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पांचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस? और

किस प्रकार था ? और मन में क्या विचार था ? जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्व जन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करनी केवल लड़कपन की बात है और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख २ दुःखित होकर मर जाता । जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं । (प्रश्न) जब जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं और ईश्वर इस को दण्ड देता है तो जीव का सुधार नहीं होसकता क्योंकि जब उस को ज्ञान हो कि हम ने अमुक काम किया था उसी का यह फल है तभी वह पाप कर्मों से बच सके ? (उत्तर) तुम ज्ञान कै प्रकार का मानते हो ? (प्रश्न) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का । (उत्तर) तो जब तुम जन्म से लेकर समय २ में राज्य, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता आदि सुख दुःख संसार में देखकर पूर्व जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते । जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता है और अविद्वान् नहीं जान सकता उसने वैद्यक विद्या पढ़ी है और दूसरे ने नहीं परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझसे कोई कुपथ्य हो गया है जिस से मुझे यह रोग हुआ है वैसे ही जगत् में विचित्र सुख दुःख आदि की घटती बढ़ती देख के पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते ? और जो पूर्व जन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है क्योंकि विना पाप के दारिद्रादि दुःख और विना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्यधनाढ्यता और सुबुद्धिता उसको क्यों दी ? और पूर्व जन्म के पाप पुण्य

के अनुसार दुःख सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है (प्रश्न) एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता किसी को काटता उखाड़ता और किसी की रक्षा करता बढ़ाता है। जिसकी जो वसतु है उस को वह चाहे जैसे रक्खे उस के ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं जो उस को दण्ड दे सके वा ईश्वर किसी से डरे। (उत्तर) परमातमा जिसलिये न्याय चाहता करता अन्याय कभी नहीं करता इसीलिये वह पूजनीय और बड़ा है जो न्यायविरुद्ध करे वह ईश्वर ही नहीं जैसे माली युक्तिके बिना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है इसी प्रकार बिना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे। परमेश्वर के ऊपर नयाय युक्त काम करना अवश्य है क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठत होवे। क्या इस जगत् में बिना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा और दुष्ट काम किये बिना दण्ड देने वाला निन्दनीय अप्रतिष्ठत नहीं होता ? इस लिये ईश्वर अन्याय नहीं करता इसी से किसी से नहीं डरता। (प्रश्न) परमात्मा ने प्रथम ही से जिस के लिये जितना देना विचारा है उतना देता और जितना काम करना है उतना करता है। (उत्तर) उस का विचार जीवों के कर्मानुसार होता है अन्यथा नहीं जो अन्यथा हो तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे। (प्रश्न) बड़े छोटों को एकसा ही सुख दुःख है बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी जैसे किसी साहू-

कार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचैहरी में उष्ण काल में जाता हो बाजार में होके उस को जाता देख कर अज्ञानी लोग कहते हैं कि देखो पुण्य पाप का फल, एक पालकी में आनन्द पूर्वक बैठा है और दूसरे बिना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठा कर ले जाते हैं परन्तु बुद्धिमान् लोग इस में यह जानते है कि जैसे २ कचहरी निकट आती जाती है वैसे २ साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता और कहारों को आनन्द होता जाता है जब कचहरी में पहुंचते हैं तब सेठ जी इधर उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक (वकील) के पास जाऊं वा सारिश्तेदार के पास, आज हारूंगा वा जीतूंगा न जाने क्या होगा और कहार लोग तमाखू पीते परस्पर बातें चीतें करते हूए प्रसन्न हो कर आनन्द में सो जाते हैं। जो वह जीत जाय तो कुछ सुख और हार जाय तो सेठ जी दुःख सागर में डूब जायं और वे कहार जैसे के वैसे रहते हैं इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने में सोता है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं जाती और मजूर कंकर पत्थर और मिट्टी ऊंचे नीचे स्थल पर सोता है उस को झट ही निद्रा आती है ऐसे ही सर्वत्र समझो। (उत्तर) यह समझ अज्ञानियों की है क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं चाहते और कहार साहूकार बनना चाहते हैं जो सुख दुःख बराबर होता तो अपनी २ अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों न चाहते। देखो! एक जीव विद्वान, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता और दूसरा महादारिद्र घसियारी के गर्भ में आता है एक

को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान युक्ति से नाड़ीछेदन दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होता है जब वह दूध पीना चाहता है तो उस के साथ मिश्री आदि मिला कर यथेष्ट मिलता है उस को प्रसन्न रखने के लिये नौकर चाकर खिलोना सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है दूसरे का जन्म जंगल में होता स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता जब दूध पीना चाहता है तब दूध के बदले में घूंसा थपेड़ा आदि से पीटा जाता है अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है कोई नहीं पूंछता इत्यादि जीवों को बिना पुण्य पाप के सुख दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है। दूसरा जैसे बिना किये कर्मों के सुख दुःख मिलते हैं तो आगे नरक स्वर्ग भी न होना चाहिये क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय बिना कर्मों के सुख दुःख दिया है वैसे मरे पीछे भी जिस को चाहेगा उस को स्वर्ग में और जिस को चाहे नरक में भेज देगा, पुनः सब जीव अधर्म युक्त होजायंगे धर्म क्यों करें? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है परमेश्वर के हाथ है जैसी उस की प्रसन्नता होगी वैसा करेगा तो पाप कर्मों से भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायगा इसलिये पूर्व जन्म के पुण्य पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत जन्म होते हैं। (प्रश्न) मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एकसा है वा भिन्न २ जाति का? (उत्तर) जीव एकसे हैं परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं। (प्रश्न) मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री

के शरीर में जाना आना है वा नहीं? (उत्तर) हां जाता आता है क्योंकि जब पाप बढ़ जाता पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य जन्म होता है इस में भी पुण्य पाप के उत्तम मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है पुनः पाप पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता है और पुण्य के फल भोग कर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है जब शरीर से निकलता है उसी का नाम "मृत्यु" और शरीर के साथ संयोग होने का नाम "जन्म" है जब शरीर छोड़ता तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है क्योंकि "यमेन वायुना" वेद में लिखा है कि यम नाम वायु का है। गरुड़पुराण का कल्पित यम नहीं, पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्रद्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीरधारण कर, बाहर आता है जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ की स्थिति समय स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण में तबतक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता, क्योंकि

उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्पपर्य्यन्त जन्म मरण दुःखों से रहितहोकर आनन्द में रहता है।

ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना विषयः ॥

(प्रश्न) परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये वा नहीं? (उत्तर) करनी चाहिये। (प्रश्न) क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले का पाप छुड़ा देगा? (उत्तर) नहीं। (प्रश्न) तो फिर स्तुति प्रार्थना क्यों करना? (उत्तर) उन के करने का फल अन्य ही है (प्रश्न) क्या है? (उत्तर) स्तुति से ईश्वर में प्रीति उस के गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उस का साक्षात्कार होना। (प्रश्न) इन को स्पष्ट करके समझाओ (उत्तर) जैसे:—

स पर्यँगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

(ईश्वर की स्तुति) वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध. परमेश्वर अपनी जीव रूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेदद्वारा कराता है यह सगुण स्तुति अर्थात् जिसर गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीरधारण वा जन्म नहीं लेता जिस में छिद्र

नहीं होता नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता जिस में क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता इत्यादि जिस २ राग द्वेषादि गुणों से पृथक् मान कर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है इस का फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण कीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है । प्रार्थनाः

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥
यजु० अ० ३२ । मं० १४ ॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२॥ यजु० अ० १९ । मं० ९॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्यतथैवैति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु ॥३॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं

प्रजासु । यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥७॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥८॥

यजु० अ० ३४ । मं० । १ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ ॥

हे अग्ने ! अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर आप कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग करते हैं उसी बुद्धि से युक्त बुद्धिमान् हम को इसी वर्त्तमान समय में आप कीजिये ॥१॥ आप प्रकाशस्वरूप हैं कृपा कर मुझ में भी प्रकाश स्थापन कीजिये । आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं इस लिये मुझ में भी कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये । आप अनन्तबलयुक्त हैं इसलिये मुझ में भी बल धारण कीजिये । आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं मुझ को भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये । आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं मुझ को भी वैसा ही कीजिये । आप निन्दा स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करने वाले हैं कृपा से मुझ को वैसा ही कीजिये ॥ २ ॥ हे दयानिधे ! आप की कृपा से

मेरा मन जागते में दूर २ जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर २ जाने के समान व्यवहार करता सब प्रकाशकों का प्रकाशक एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥ ३ ॥ हे सर्वान्तर्यामी! जिस से कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥ ४ ॥ जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चिताने हारा निश्चयात्मक वृत्ति है और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है जिस के विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥ ५ ॥ हे जगदीश्वर जिस से सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते जो नाश रहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है जिस में ज्ञान क्रिया है पांच ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है उस योगरूप यज्ञ को जिस से बढ़ाते हैं वह मेरा मन योग विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥ ६ ॥ हे परम विद्वन् परमेश्वर! आप की कृपा से मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं वैसे ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिस में अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥ ७ ॥ हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों

के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर उधर डुलाता है जो हृदय में प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है वह मेरा मन सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये ॥ ८ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ यजु० अ० ४ मं १६ ॥

हे सुख के दाता स्वप्रकाशस्वरूप सब को जानने हारे परमात्मन् ! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है उस से पृथक् कीजीये इसीलिये हम लोग नम्रता पूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें ॥

मानो महान्तमुतमानोऽअर्भकं मा न उक्षन्तमुतमान उक्षितम । मानो वधीः पितरं मोत मातरं मानः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

यजु० अ० १६ । मं० १५ ॥

हे रुद्र ! (दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को दे के रुलानवाले परमेश्वर) आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ माता पिता और प्रिय, बन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिये प्रेरित मत कीजीये ऐसे मार्ग से हमको चलाइये जिस से हम आपके दण्डनीय न हों ॥

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥ शतपथब्रा० १४।३।१।३०।

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिये और मृत्यु रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिये अर्थात् जिस २ दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है वह विधिनिषेधमुख होने से सगुण निर्गुण प्रार्थना जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उस को वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न होसके उतना किया करे अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसका स्वीकार करता है कि जैसे हे परमेश्वर ! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझ को सब से बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे अधीन सब होजायं इत्यादि क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करदे ! जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल होजावे तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्राथना करते २ कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा हे परमेश्वर ! आप हम को रोटी बनाकर खिलाइये मेरे मकान में झाड़ू लगाइये वस्त्र धो दीजिये और खेती वाड़ी भी कीजिये इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते वे महामूर्ख

हैं क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उस को जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी नहीं पावेगा जैसे:—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

यजु० अ० ४०। मं।२॥

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जबतक जीवे तबतक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे आलसी कभी न हो। देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं वे सब अपने २ कर्म और यत्न करते ही रहते हैं जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि बढ़ते घटते रहते हैं वैसे यह दृष्टांत मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म मे पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है जैसे काम करने वाले पुरुष को भृत्य करते हैं और अन्य आलसी को नहीं देखने की इच्छा करते और नेत्रवाले को दिखलाते हैं अन्धे को नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है हानिकारक कर्म में नहीं, जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उस को गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उस को शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है। अब तीसरा उपासना:—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुंगिरा तदा स्वयन्तदन्तः करणेन गृह्यते॥

यह उपनिषद् का वचन है—जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट होगये हैं आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित जिस ने लगाया है उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है वह बाणी से कहा नहीं जो सकता क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तः करण से ग्रहण करता है। उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो २ काम करना होता है वह २ सब काम करना चाहिये अर्थात्:—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः योगसू० सादनपादे। सू० ३० ॥

इत्यादि सूत्र पातञ्जलयोगशास्त्र के हैं—जो उपासना का आरम्भ करना चाहे उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सब से प्रीति करे, सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो अभिमान कभी न करे, ये पांच प्रकार के यम मिलके उपासना योग का प्रथम अङ्ग है।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगशा० साधनपादे। सू० ३२ ॥

राग द्वेष छोड़ भीतर और जलादि से बाहर पवित्र रहै, धर्म्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे, सदा सुख दुःख का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करें

अधर्म्म का नहीं, सर्वदा सत्य शास्त्रों को पढ़े पढ़ावे सत्यपुरुषों का सङ्ग करे और "ओ३म्" इस एक परमात्मा के नाम के अर्थ विचार कर नित्यप्रति जप किया करे, अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के नियमों को मिलाके उपासनायोग का दूसरा अङ्ग कहाता है। इस के आगे छः अङ्ग योगशास्त्र व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखलेवें। जब उपासना करना चाहें तब एकांत शुद्ध देश में जाकर आसन लगा प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवें। जब इन साधनों को करता है तब उस का आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुंच जाता है जो आठ पहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है वहां सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहरव्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना निर्गुणोपासना कहाती है इसका फल जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण स्वभाव पवित्र हो जाते हैं इसलिये परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इस से इस का फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा वह पर्वत के

समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सब को सहन कर सकेगा क्या यह छोटी बात है! और जो परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रखे हैं उस का गुण भूल जाना ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

मूर्त्तिपूजा विषयः।

(प्रश्न) मूर्त्तिपूजा कहां से चली? (उत्तर) जैनियों से। (प्रश्न) जैनियों ने कहां से चलाई? (उत्तर) अपनी मूर्खता से। (प्रश्न) जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्त्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है। (उत्तर) जीव चेतन है और मूर्त्ति जड़, क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? (प्रश्न) शाक्त आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियां नहीं हैं। (उत्तर) हां यह ठीक है जो जैनियों के तुल्य बनाते तो जैनमत में मिल जाते इसलिये जैनों की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाई क्योंकि जैनों से विरोध करना इनका काम और इनसे विरोध करना मुख्य उनका काम था जैसे जैनों ने मूर्त्तियां नंगी, ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं उनसे विरुद्ध वैष्णवादि ने यथेष्ट शृङ्गारित स्त्री के सहित रंग राग भोग विषयासक्तसहिताकार खड़ी और बैठी हुई बनाई है। जैनी लोग बहुत से शंख घण्टा घरियार आदि बाजे नहीं बजाते ये लोग बड़ा कोलाहल करते हैं तब तो लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल

से बच के इनकी लीला में आफंसे और बहुत से व्यासादि महर्षियों के नाम से मनमानी असम्भव गाथायुक्त ग्रन्थ बनाये उनका नाम "पुराण" रखकर कथा भी सुनाने लगे और फिर ऐसी २ विचित्र गाथा रचने लगे कि पाषाण की मूर्तियां बनाकर गुप्त कहीं पहाड़ वा जङ्गलादि में धर आये वा भूमि में गाड़ दी, पश्चात् अपने चेलों में प्रसिद्ध किया कि मुझ को रात्रि को स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम वा लक्ष्मी, नारायण और भैरव हनुमान् आदि ने कहा है कि हम अमुक २ ठिकाने हैं। हम को वहां से ला, मन्दिर में स्थापन कर और तू ही हमारा पुजारी होवे तो हम मनोवाञ्छित फल देवें। जब आंख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों ने पोप जी की लीला सुनी तब तो सच ही मानली और उन से पूछा कि ऐसी वह मूर्ति कहां पर है? तब तो पोपजी बोले कि अमुक पहाड़ वा जङ्गल में है, चलो मेरे साथ दिखला दूं। तब तो उन अन्धों ने उस धूर्त्त के साथ चलके वहां पहुंचकर देखा आश्चर्य में होकर उस पोप के पग में गिरकर कहा आप के ऊपर इस देवता की बड़ी ही कृपा है। अब आप ले चलिये और हम मन्दिर बनवा देवेंगे उस में इस देवता की स्थापना कर आप ही पूजा करना और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन स्पर्शन करके मनोवाञ्छित फल पावेंगे। इसी प्रकार जब एक ने लीला रची तब तो उसको देख सब लोगों ने अपनी जीविकार्थ छल कपट से मूर्त्तियां स्थापन कीं। (प्रश्न) परमेश्वर निराकार है वह ध्यान में नहीं आसकता इसलिये अवश्य मूर्त्ति होनी चाहिये। भला जो कुछ भी नहीं करें तो मूर्त्ति के सन्मुख जा हाथ जोड़ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं इस में क्या हानि है?

(उत्तर) जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तब उसकी मूर्त्ति ही नहीं बन सकती और मूर्त्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और बनस्पति आदि अनेक पदार्थ जिन में ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वररचित महांमूर्त्तियां कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्त्तियां बनती हैं उनको देखकर परमेश्वर स्मरण नहीं हो सकता? जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है यह तुम्हारा कथन सर्वत्र मिथ्या है और जब वह मूर्त्ति सामने न होगी तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहां मुझे कोई नहीं देखता इस लिये वह अनर्थ करे बिना नहीं चूकता इत्यादि अनेक दोष पाषाणादि मूर्त्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं। अब देखिये! पाषाणादि मूर्त्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष सर्वत्र सर्वदा परमेश्वर का सबके बुरे भले कर्म्मों का द्रष्टा जानकर एक क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जानके कुकर्म करना तो कहां रहा किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता क्योंकि वह जानता है जो मैं वचन और कर्म से भी कुछ बुरा काम करूंगा तो इस अन्तर्यामी के न्याय से बिना दण्ड पाये कदापि न बचूंगा और नामस्मरणमात्र से कुछ भी फल नहीं होता जैसा कि मिशरी २ कहने से मुंह मीठा और नींब २ कहने से कडुआ नहीं होता किन्तु जीभ से चाखने ही से मीठा वा कडुवापन जाना जाता है। (प्रश्न) क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है, जो

सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है? (उत्तर) नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं, जिस प्रकार तुम नामस्मरण करते हो वह रीति झूठी है। (प्रश्न) हमारी कैसी रीति है? (उत्तर) वेदविरुद्ध। (प्रश्न) भला अब आप हमको वेदोक्त नामस्मरण की रीति बतलाइये? (उत्तर) नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये जैसे "न्यायकारी" ईश्वर की एक नाम है इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपात रहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना अन्याय कभी ने करना॥ इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सक्ता है॥

(प्रश्न) हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है परन्तु उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य्य और देवी आदि के शरीरधारण कर राम कृष्णादि अवतार लिये बिना इसमें उसकी मूर्त्ति बनती है क्या यह भी बात झूठी है? (उत्तर) हां २ झूठी क्योंकि "अज एकपात्" "अकायम्" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर का जन्म मरण और शरीरधारण रहित वेदों में कहा है तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त और सुख दुःख इत्यादि गुणरहित है वह एक छोटे से वीर्य्य गर्भाशय और शरीर में क्योंकि आ सक्ता है? आता जाता वह है कि जो एक देशीय हो और जो अचल अदृश्य जिसके बिना एक परमाणु भी ख़ाली नहीं है उसका अवतार कहना जानो वन्ध्या के पुत्र का विवाह कर उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है। (प्रश्न) जब परमेश्वर व्यापक है तो मूर्त्ति में भी है पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं? देखो!:—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

परमेश्वर देव न काष्ठ न पाषाण न मृत्तिका से बनाये पदार्थों में हैं किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है। जहां भाव करे वहां ही परमेश्वर सिद्ध होता है। (उत्तर) जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र न करना यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्त्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ाके एक छोटी सी झोंपड़ी का स्वामी मानना? देखो! यह कितना बड़ा अपमान है. वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो। जब व्यापक मानते हो तो वाटिका में से पुष्प पत्र तोड़के क्यों चढ़ाते? चन्दन घिसके क्यों लगाते? धूप को जलाके क्यों देते? घंटा, घरियाल, झांज, पखावजों को लकड़ी से कूटना पीटना क्यों करते हो? तुम्हारे हाथों में हैं क्यों जोड़ते। शिर में है क्यों शिर निमाते? अन्न जलादि में है क्यों नैवेद्य धरते? जल में है स्नान क्यों कराते? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य की? जो व्यापक की करते हो तो पाषाण लकड़ी आदि पर चन्दन पुष्पादि क्यों चढ़ातेहो? और व्याप्य की करते हो तो हम परमेश्वर की पूजा करते हैं ऐसा झूठ क्यों बोलते हो? हम पाषाणादि के पुजारी हैं ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते॥

अब कहिये "भाव" सच्चा है वा झूठा? जो कहो सच्चा है तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायगा और तुम मृत्तिका में सुवर्ण रजतादि, पाषाण में हीरा पन्ना आदि, समुद्र-फेन में मोती, जल में घृत दुग्ध दधि आदि और धूलि में मैदा

शङ्कर आदि की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बनाते हो? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते वह क्यों होता है? और सुख की भावना सदैव करते हो वह क्यों नहीं प्राप्त होता? अन्धा पुरुष नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं करते क्यों मर जाते हो? इस लिये तुम्हारी भावना सच्ची नहीं क्योंकि जैसे में वैसी करने का नाम भावना कहते हैं। जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना अभावना है। क्योंकि जैसे का वैसा जानना ज्ञान और अन्यथा जानना अज्ञान है। इस लिये तुम अभावना का भावना और भावना को अभावना कहते हो। (प्रश्न) अजी जब तक वेद मन्त्रों से आवाहन नहीं करते तब तक देवता नहीं आता और आवाहन करने से झट आता और विसर्जन करने से चला जाता है। (उत्तर) जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन करने से देवता आ जाता है तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती? और विसर्जन करने से चला क्यों नहीं जाता? और वह कहां से आता और कहां जाता है? सुनो भाई! पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है। जो तुम मन्त्रबल से परमेश्वर को बुला लेते हो तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते? और शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सक्ते? सुनो भाई! भोले भाले लोगो! यह पोपजी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है। (प्रश्न):—

प्राणा इहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा

आत्मेहागच्छतु सुखंचिरं तिष्टतुस्वाहा इन्द्रियाणी हागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ॥

इत्यादि वेद मन्त्र हैं क्यों कहते हो नहीं हैं ? (उत्तर) अरे भाई ! बुद्धि को थोड़ी सी तो अपने काम में लाओ । ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध तन्त्र ग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियां हैं वेद वचन नहीं । (प्रश्न) क्या तन्त्र झूठा है ? (उत्तर) हां, सर्वथा झूठा है, जैसे आवाहन प्राण प्रतिष्ठादि पाषाणादि मूर्ति विषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं वैसे "स्नानंसमर्पयामि" इत्यादि वचन भी नहीं अर्थात् इतना भी नहीं है कि "पाषाणादिमूर्ति रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्" अर्थात् पाषाण की मूर्ति बना मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन अक्षतादि से पूजे ऐसा लेशमात्र भी नहीं । (प्रश्न) जो वेदों में विधि नहीं तो खण्डन भी नहीं है और जो खण्डन है तो "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" मूर्त्ति के होने ही से खण्डन हो सक्ता है । (उत्तर) विधि तो नहीं परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना और सर्वथा निषेध किया है क्या अपूर्व विधि नहीं होती ? सुनो यह है :—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इ वते तमो या उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥
यजुः० अ० ४० मं० ७॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति
॥ २ ॥ यजुः० अ० ३२ मं० ३ ॥
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ३ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
केनोपनिषदि ॥

जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःख सागर में डूबते हैं। और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिर-काल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं ॥१॥ जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा परि-माण सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है ॥२॥ जो वाणी की इयत्ता अर्थात् यह जल है लीजिये वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है उसीको ब्रह्म जान और उपा-सना कर और जो उस से भिन्न है वह उपासनीय नहीं ॥३॥ जो मन से "इयत्ता" करके मनमें नहीं आता जो मनको जानता है

उसी ब्रह्म को तू जान और उसी की उपासना कर जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर ॥ ४ ॥ जो आंख से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आंखें देखती हैं उसी को ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और जो उस से भिन्न सूर्य विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं उनकी उपासना मत कर ॥५॥ जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिससे श्रोत्र सुनता है उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥ ६ ॥ जो प्राणों से चलायमान नहीं होता जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर, जो यह उससे भिन्न वायु है उसकी उपासना मत कर ॥७॥ इत्यादि बहुत से निषेध हैं। निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है "प्राप्त" का जैसे कोई कहीं बैठा हो उसको वहां से उठा देना "अप्राप्त" का जैसे हे पुत्र! तू चोरी कभी मत करना, कुँवे में मत गिरना, दुष्टों का संग मत करना, विद्याहीन मत रहना इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है सो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त, परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है। इस लिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है। (प्रश्न) मूर्त्तिपूजा में पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है। (उत्तर) कर्म दो ही प्रकार के होते हैं :— विहित—जो कर्त्तव्यता से वेद में सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं, दूसरे निषिद्ध—जो अकर्त्तव्यता से मिथ्याभाषणादि वेद में निषिद्ध हैं जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह धर्म उसका ना करना अधर्म है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना अधर्म और न करना धर्म है। जब वेदों से निषिद्ध मूर्त्तिपूजादि कर्मों को तुम करते हो तो पापी क्यों नहीं? (प्रश्न) देखो वेद! अनादि हैं उस समय

मूर्त्ति का क्या काम था क्योंकि पहिले तो देवता प्रत्यक्ष थे। यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून होगया तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके और मूर्त्ति का ध्यान तो कर सक्ते हैं इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्त्तिपूजा है, क्योंकि सीढ़ी २ से चढ़े तो भवन पर पहुंच जाय, पाहिली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं जा सकता; इस लिये मूर्त्ति प्रथम सीढ़ी है इसको पूजते २ जब ज्ञान होगा और अन्तःकरण पवित्र होगा तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य का मारनेवाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर गोली वा गोला आदि मारता पश्चात् सूक्ष्म में भी निशाना मार सकता है वैसे स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता २ पुनः सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियां गुडियों का खेल तब तक करती हैं कि जब तक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम नहीं। (उत्तर) जब वेदविहित धर्म्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है तो पुनाः तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा करना अधर्म ठहरा। जो २ ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं उन २ का प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है, सुनोः—

नास्तिको वेद निन्दकः ॥१॥ मनु० २।११॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ २ ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ॥ तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि

च ॥ ३ ॥ मनु० अ० १२ । ९५, ९६ ॥

मनु जी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है वह नास्तिक कहाता है ॥ १ ॥ जो ग्रन्थ वेदबाह्य पुरुषों के बनाये संसार को दुःखसागर में डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल असत्य अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ २ ॥ जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ३ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक हैं इस से विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं और जो वेदविरुद्ध पुस्तक हैं उन में कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है । मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है, इस लिये ज्ञानियों की सेवा सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है पाषाणादि से नहीं । क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है ? नहीं २ मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है जिस में गिरकर चकनाचूर हो जाता है पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है । हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं, जैसे ऊपर घर में जाने की निःश्रेणी होती है किन्तु मूर्त्तिपूजा करते २ ज्ञानी तो कोई न हुआ प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्यजन्म व्यर्थ खोके बहुत २ से मर गये और जो अब

हैं वा होंगे वे भी मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे। मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं किन्तु जो धार्मिक विद्वान् और सृष्टिविद्या है उसको बढ़ाता २ ब्रह्म को भी पाता है और मूर्त्ति गुडियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुडियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये! जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायेगा। (प्रश्न) साकार में मन स्थिर होता और निराकार में स्थिर होना कठिन है, इस लिये मूर्त्तिपूजा रहनी चाहिये। (उत्तर) साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक २ अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चंचल भी नहीं रहता किन्तु उसी के गुण कर्म स्वभाव का विचार करता २ आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि जगत् में मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फंसा रहता है परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता जबतक निराकार में न लगावे क्योंकि निरवयव होने से उस में मन स्थिर हो जाता है इस लिये मूर्त्तिपूजा करना अधर्म है। दूसरा—उस में क्रोड़ों रुपया मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है। तीसरा—स्त्री पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार लड़ाई बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। चौथा—उसी को धर्म, अर्थ, काम, और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ

रहित होकर मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाते हैं। पांचवां नाना प्रकार का विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पूजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके विरुद्ध मत में चलकर आपस में फूट बढ़ाके देश का नाश करते हैं। छठा—उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं उनका पराजय होकर राज्यस्वातन्त्र और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भठियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं। सातवां—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान देता है वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्त्तियां धरते हैं उन दुष्ट बुद्धि वालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे। आठवां—भ्रान्त होकर मन्दिर २ देश देशान्तर में घूमते २ दुःख पाते धर्म, संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते चोर आदि से पीड़ित होते ठगों से ठगाते रहते हैं। नववां–दुष्ट पूजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्यपान, मांसाहार, लड़ाई बखेड़ों में व्यय करते हैं जिससे दाता के सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है। दसवां–माता पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं। ग्यारहवां–उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर ले जाता है तब हाय २ करके रोते रहते हैं। बारहवां–पूजारी परस्त्रियों के संग और पूजारिनी परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्रीपुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं। तेरहवां–स्वामी सेवक की आज्ञा का पालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट होजाते

है। चौदहवां—जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़बुद्धि हो जाता है क्योंकि ध्येयका जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है। पन्द्रहवां—परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिये बनाये हैं उनको पुजारि जी तोड़ ताड़ कर न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायु जलकी शुद्धि करता और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़ कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिये पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं? सोलहवां-पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन और अक्षत आदि सबको जल और मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर सड़के उससे इतना दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्रों जीव उसमें पड़ते और उसी में मरते सड़ते हैं। ऐसे २ अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं इस लिये सर्वथा पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्हों ने पाषाणादि मूर्त्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे न बचते हैं और न बचेंगे॥

(प्रश्न) किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा करनी करानी नहीं और जो अपने आर्य्यावर्त्त में पंचदेव पूजा शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है उसका यही पंचायतन पूजा जो कि शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं, यह पंचायतन पूजा है वा नहीं? (उत्तर) किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करना, किन्तु "मूर्त्तिमान्" जो नीचे कहेंगे उनकी पूजा

अर्थात् सत्कार करना चाहिये वह पंचदेव पूजा पंचायतन पूजा शब्द बहुत अच्छा अर्थ वाला है परन्तु विद्याहीन मूढ़ों ने उसके उत्तम अर्थ को छोड़कर निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया। जो आज कल शिवादि पांचों की मूर्त्तियां बनाकर पूजते हैं उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं पर सच्ची पंचायतन वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्त्तिपूजा यह है, सुनो :—

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्॥ यजु०। अ० १६। मं० १५॥

आचार्य्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ अथर्व० कां० ११। व० ५। मं० १७॥

अतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ अथर्व० कां० १५। व० १३। मं० ६॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत॥ ऋग्वेदे॥

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। तैत्तिरीयोपनि०। वल्ली० १। अनु० १॥

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते। शतपथ० कां० १४। प्रपा ६। ब्राह्म० ७। कंडिका १०॥ मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवोभव। तैत्तिरयोपनि० व० १। अनु० ११॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ॥
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः०
मनु० अ० ३ ॥ ५५ ॥

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
मनुस्मृतौ ॥

प्रथम माता मूर्त्तिमती पूजनीय देवता अर्थात् सन्तानों को तन मन धन से सेवा करके माता को प्रसन्न रखना, हिंसा अर्थात् ताड़ना कभी न करना। दूसरा पिता सत्कर्त्तव्य देव उसकी भी माता के समान सेवा करनी। तीसरा आचार्य्य जो विद्या का देने वाला है उसकी तन मन धन से सेवा करनी। चौथा अतिथि जो विद्वान, धार्मिक, निष्कपटी, सबकी उन्नति चाहने वाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ, सत्य उपदेश से सबको सुखी करता है उसकी सेवा करे। पांचवां स्त्री के लिये पति और पुरुष के लिये पत्नी पूजनीय है। ये पांच मूर्त्तिमान् देव जिनके संग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्य शिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होता है यही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियां हैं। इनकी सेवा न करके जो पाषाणादिमूर्त्ति पूजते हैं वे अतीव वेदविरोधी हैं। (प्रश्न) माता पिता आदि की सेवा करें और मूर्त्तिपूजा भी करें तब तो कोई दोष नहीं? (उत्तर) पाषाणादि मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने ही में कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़के अदेव पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया? इसको लोगों ने इसी लिये स्वीकार किया है कि

जो माता पितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट पूजा धरेंगे तो वे स्वयं खा लेंगे और भेंटपूजा लेंगे तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा॥

पंचमहायज्ञविषयः

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़े किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार औषध सेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यवहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपा दृष्टि और सहाय से महा कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें इस के लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ॥ आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्याराधो भगे मां धियमुदवा

ददन्नः । भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभि-र्नृवन्तः स्याम ॥३॥ उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥ भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥ ५ ॥ ऋ० मं० ७ सू० ४१ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी तत्पश्चात् शौच दन्तधावन मुखप्रक्षालन करके स्नान करें पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकांत जंगल में जाके योगाभ्यास की रीती से परमेश्वर की उपासना कर सूर्य्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आधघड़ी दिन चढ़े तक घर में आके *सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणों से यथाविधि उचित समय में किया करें इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्च-महायज्ञविधि में देख लेवें। प्रथम शरीर शुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करे आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि सवाहा ॥ २ ॥ ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक २ से एक २ आचमन कर दोनों

* अग्निहोत्रादि ॥

हाथ धो, कान आंख नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके शुद्ध देश पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के यथाशक्ति रोके पश्चात् धीरे २ भीतर लेके भीतर थोड़ा सा रोके यह एक प्राणायाम हुआ इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके -

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शँय्योरभिस्रवन्तु नः ॥ यजु० अ० ३६ ॥

इस मन्त्र को एक बार पढ़के तीन आचमन करे पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे-

ओं वाक् वाक् ॥

इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।

ओं प्राणः प्राणः ॥

इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।

ओं चक्षुश्चक्षुः ॥

इससे दक्षिण और वाम नेत्र।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥

इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र।

ओं नाभिः ॥

इससे नाभि ।

ओं हृदयम् ॥

इससे हृदय ।

ओं कण्ठः ॥

इससे कण्ठ ।

ओं शिरः ॥

इससे मस्तक ।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥

इससे दोनों भुजाओं के मूल सकन्ध और

ओं करतलकरपृष्ठे ॥

इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करे ।

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥

इस मन्त्र से शिर पर ।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥

इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥

इस मन्त्र से कण्ठ पर ।

ओं महः पुनातु हृदये ॥

इस मन्त्र से हृदय पर ।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥

इससे नाभि पर ।

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥

इससे दोनों पाओं पर।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥

इससे पुनः मस्तक पर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे। पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे। और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे तत्पश्चात् सृष्टिकर्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मनको कभी न जाने देवे किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्त

रिक्षमथो स्वः ॥३॥ ऋ० मं० १० । सू० १९० ॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे ॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्योनम इषुभ्योनम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो ० । ० ॥२॥ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकूरक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो० ० ॥३॥ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो० ।० ॥४॥ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुधइषवः। तेभ्यो० । ० ॥५॥ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रोरक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो० । ० ॥ ६ ॥ अथर्व० कां ३ । सू० २७ । मं० १--६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय निश्शंक उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात्

परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १ ॥ य० अ० ३५ । मं० १४ ॥ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ २ ॥ य० अ० ३३ । मं० ३१ ॥ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आ प्राद्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तथुषश्चस्वाहा ॥३॥य०अ० १३। मं०४६ ॥तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ता च्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४ ॥ यजुः० । अ० ३६ । मं० २४ ॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके पुनः (शन्नो देवी०) इससे तीन आचमन करके ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवि-तुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की

स्तुति प्रार्थनोपासना करे पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आप की कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १६ । मं० ४१ ॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

अथाग्निहोत्रम् ॥

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें संस्कारविधिः पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणों से अग्न्याधान समिसाधान और पृष्ठ २४ में लिखे०

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इत्यादि ४ चार मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादि युक्त घी को तपाके पात्र में ले के कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ २५ में लि० आघारावाज्यभागाहुति चार देके नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥ ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो ॥

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥ ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥ ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी ॥

ओं सजूर्देवेण सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देना चाहिये-

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा । इदमग्नये प्राणाय, इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा । इदं वायवेऽपानाय, इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । इदमादित्याय, व्यानाय इदन्न मम ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणा पानव्यानेभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः, इ-

दन्न मम ॥ ४ ॥ ओं आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म-भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥ ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधा-विनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥ य०अ० ३२ । मं० १४ ॥ ओं विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ॥ ७ ॥ य० । अ० ३० । मं० ३। ओं अग्नेनय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहु राणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ य० अ० ४० मं० १६ ॥

इन आठ मन्त्रों से एक २ मन्त्र करके एक २ आहुति ऐसे आठ आहुति देके ॥

ओं सर्वं वै पूर्णं᳭ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक २ वार पढ़के एक २ करके तीन आहुति देवे ॥

सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं प्रातः दो ही काल में करे दो ही रात दिन की संधिवेला हैं अन्य नहीं न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्य्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है उसके लिये एक किसी धातु वा मट्टी की ऊपर १२ वा १६ अंगुल

चौकोन उतनी ही गहिरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहे । उसमें चन्दन पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े छोटे करके उसमें रक्खे उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इन्धन रखदे । एक प्रोक्षणीपात्र और तीसरा प्रणीतापात्र और एक आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र और चमसा सोने चांदी वा काष्ठ का बनवाके प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र मे घृत रखके घृत को तपा लेवे प्रणीता जल रखने के वास्ते और प्रोक्षणी इस लिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है ॥

(प्रश्न) होम से क्या उपकार होता है ? (उत्तर) सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है । (प्रश्न) चन्दनादि घिसके किसी के लगावे या घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं । (उत्तर) जो तुम पदार्थविद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता । देखो जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है वैसे दुर्गन्ध का भी । इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है । (प्रश्न) जब ऐसा ही है तो केशर

कस्तूरी सुगंधित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगं-धित वायु होकर सुखकारक होगा। (उत्तर) उस सुगंध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है (प्रश्न) तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जायें और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहे वेद पुस्तकों का पठन पाठन और रक्षा भी होवे। (प्रश्न) क्या इस होम करने के बिना पाप होता है? (उत्तर) हां क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इस लिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष है जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके इससे अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है इस लिये होम करना अत्यावश्यक है। (प्रश्न) प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक २ आ-हुति का कितना परिमाण है? (उत्तर) प्रत्येक मनुष्य को सोलह २

आहुति और छः २ मासे घृतादि एक २ आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इमसे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसी लिये आर्यवरशिरोमणि महाशय ऋषि महर्षि राजे महाराजे लोग बहुतसा होम करते और कराते थे जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त्तदेश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था अब भी प्रचार हो तो वैसा ही होजाय। ये दो यज्ञ अर्थात् एक ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना पढ़ाना संध्योपासन ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना। दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना परन्तु ब्रह्मचर्य्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है। ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करने होते हैं॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता॥१॥ प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥ २॥ अ०। कां० १९। अनु० ७। मं० ३। ४॥

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत। उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्॥३॥ षड्विंषब्राह्मणे। प्र० ४। खं० ५॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वांनोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥४॥ मनु० २। १०३॥

जो संध्या २ काल में होम होता है वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥ १ ॥ जो अग्नि में प्रातः२ काल में होम किया जाता है वह २ हुतद्रव्य सायंकाल पर्यन्त वायु की शुद्धि द्वारा बल बुद्धि और आरोग्यकारक होता है ॥ २ ॥ इसी लिये दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये ॥ ३ ॥ और ये दोनों काम जो सायं और प्रातःकाल में न करे उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ॥ ४ ॥ (प्रश्न) त्रिकाल संध्या क्यों नहीं करना? (उत्तर) तीन समय में संधि नहीं होती प्रकाश और अंधकार की संधि भी सायं प्रातः दो ही वेला में होती है जो इस को न मानकर मध्याह्न काल में तीसरी संध्या माने वह मध्यरात्रि में भी संध्योपासन क्यों न करे जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे तो प्रहर २ घड़ी २ पल २ और क्षण २ की भी संधि होती हैं उनमें भी संध्योपासन किया करे जो ऐसा भी करना चाहे तो हो ही नहीं सक्ता और किसी शास्त्र का मध्याह्न संध्या में प्रमान भी नहीं इसलिये दोनों कालों में संध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं वे भूत भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं सन्ध्योपासन के भेद से नहीं ॥

पितृयज्ञ ।

तीसरा "पितृयज्ञ" अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान् ऋषि जो पढ़ने पढ़ानेहारे पितर माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम

योगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् "श्रत्" सत्य का नाम है "श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्" जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है। और "तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्" जिस २ कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायं उस का नाम तर्पण है। परन्तु यह जीवितों के लिये है मृतकों के लिये नहीं॥

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यान्ताम् ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्। इति देवतर्पणम्॥

"विद्वाꣳसो हि देवाः" यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है—जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं जो साङ्गोपांग चार वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा और जो उनसे न्यून हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करनी है उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है।

अथर्षितर्प्पणम्।

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्य

न्ताम् । मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् । इति ऋषितर्प्पणम् ॥

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियां कन्याओं को विद्यादान देवें उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों उनका सेवन सत्कार करना ऋषितर्पण है ।

अथ पितृतर्पणम् ।

ओं सोमपादः पितरस्तृप्यन्ताम् । अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् । बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् । सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् । यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि- पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि । प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि । मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि । प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि । स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः स

गोत्रास्तर्पयामि । इति पितृतर्पणम् ।

"ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः" जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों वे सोमसद् "यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता त अग्निष्वात्ताः" जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जानने वाले हों वे अग्निष्वात्त "ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहार सी दन्ति त बर्हिषद्" जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों वे बर्हिषद् "ये सोममैश्वर्य्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः" जो ऐश्वर्य्य के रक्षक और महोषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य्य के रक्षक औषधों को देके रोगनाशक हों वे सोमपा "ये हविर्होतुमत्तुमर्ह भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः" जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों वे हविर्भुज् "य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्य रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः" जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों वे आज्यपा "शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः" जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो वे सुकालिन् "ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः" जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों वे यम "यः पाति स पिता" जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो वह पिता "पितुः पिता पितामहः पितामहस्य पिता प्रपितामहः" जो पिता का पिता हो वह पितामह और जो पितामह का पिता हो वह प्रपितामह "या मानयति सा माता" जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे वह माता "या पितुर्माता सा पितामही पितामहस्य माता प्रपितामही" जो पिता की माता हो

वह पितामही और पितामह की माता हो वह प्रपितामही। अपनी स्त्री तथा भगिनी सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न वस्त्र सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस २ कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे उस २ कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा वह करनी वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है ॥

अथ बलिवैश्वदेव विधिः।

ओं अग्नये स्वाहा। ओं सोमाय स्वाहा। ओं अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। ओं धन्वन्तरये स्वाहा। ओं कुह्वै स्वाहा। ओं अणुमत्यै स्वाहा। ओं प्रजापतये स्वाहा। ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। ओं स्विष्टकृते स्वाहा।

इन दश मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो उसी की दश आहुति करे तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः।

इससे पूर्व।

ओं सानुगाय यमाय नमः।

इससे दक्षिण।

ओं सानुगाय वरुणाय नमः।

इससे पश्चिम।

ओं सानुगाय सोमाय नमः ।

इमसे उत्तर ।

ओं मरुद्भ्यों नमः ।

इससे द्वार ।

ओं अद्भ्यो नमः ।

इससे जल ।

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ।

इससे मुसल और ऊखल ।

ओं श्रियै नमः ।

इससे ईशान ।

ओं भद्रकाल्यै नमः ।

इससे नैर्ऋत्य ।

ओं ब्रह्मपतये नमः । ओं वास्तुपतये नमः ।

इससे मध्य ।

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः । ओं नक्तं चारिभ्यो भूतेभ्या नमः ।

इससे ऊपर ।

ओं सर्वात्मभूतये नमः ।

इससे पृष्ठ ।

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ।

इससे दक्षिण । इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि

आजाय तो उसी को दे देना नहीं तो अग्नि में धर देना तत्पश्चात् घृत सहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निवपद् भुवि ॥१॥

अर्थः—कुत्ता, पतित, चांडाल, पापरोगी, काक, और कृमी इन छः नामों से छः भाग पृथिवी में धरे और वे छः भाग जिस २ के नाम हैं उस २ को देना चाहिये ॥ ४ ॥

अथातिथियज्ञः ॥

अब पांचवी अथिति सेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिस की कोई तिथि निश्चित् न हो अर्थात् अकस्मात् धार्म्मिक, सत्योपदेशक सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला, पूर्णविद्वान् परमयोगी, सन्यासी, गृहस्थ के यहां आवे तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बैठालकर खान पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूशा करके उनको प्रसन्न करे पश्चात् सत्संग कर उन से ज्ञान विज्ञान आदि जिन से धर्म अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे २ उपदेशों का श्रवण करे और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पा के गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं परन्तु :—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान्
शठान्। हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि
नार्चयेत् ॥ मनु० ४ । ३० ॥

(पाखण्डी) वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध, आचरण करनेहारा (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादि युक्त जैसे विड़ाला छिप और स्थिर रहकर ताकता २ झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक (शठ) अर्थात् हठी दुराग्रही अभिमानी आप जाने नहीं औरों का कहा माने नहीं (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकनेवाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती कहते हैं हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है इत्यादि गपोड़े हांकने वाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है वैसे आजकल के वैरागी और खाकी आदि हठी दुराग्रही वेद विरोधी हैं ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्म युक्त करते हैं आप तो अवनीत के काम करते ही हैं परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं। इन पांच महायज्ञों का फल यह है कि ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की बृद्धि। अग्निहोत्र से वायु, बृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु के श्वास स्पर्श खान पान से आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना इसलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं कि यह वायु आदि पदार्थों को शुद्ध कर देता है। पितृयज्ञ से जब माता पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उस का ज्ञान बढ़ेगा उससे सत्याऽसत्य का निर्णय करे सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा कृतज्ञता अर्थात्

जैसी सेवा माता पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है उसका बदला देना उचित ही है। बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये वही है*। जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तबतक उन्नति भी नहीं होती उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्य मात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है बिना अतिथियों के सन्देह निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता निश्चय बिना सुख कहां ?

वर्णव्यवस्था विषयः

चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण यह हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥ मनु०

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥ २ ॥ गी० ॥

अर्थ—१—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ दो—पूर्ण विद्या पढ़ें। ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ चौथा—यज्ञ करायें। ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों में दान देवें। ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवें भी। इनमें से ३ तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में, और

* सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १०२

तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना, जीविका हैं परन्तु —

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है वह नीच कर्म है किन्तु पढ़ाके और यज्ञ करा के जीविका करनी उत्तम है ॥ १ ॥ (शमः) मनको अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) राग द्वेष मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना (आर्जवम्) निरभिमान रहना दम्भ स्वात्म श्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्रभाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़ के विचारकर उनके शब्दार्थ सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना सब से उत्तम गुण कर्म स्वभावको धारण करना ये गुण व कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें मनुष्यमात्र

में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूप लक्षणम् ।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् । २ गी०

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना (प्रजनां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्र विद्या का पढ़ाना न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना (शौर्यम्) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना (तेजः) प्रगल्भता उत्तमप्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत् क्लेश दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रख के कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय, विचार आदि सब में अति चतुर बुद्धिमान् होना (युद्धे, चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आगया (ईश्वरभावः) जैसे

परमेश्वर सब के ऊपर दया करके पितृवत् वर्त्तमान पक्षपात छोड़ कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुख दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्य्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है वैसे प्रजा के साथ वर्त्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे इनका भी इन्हीं गुण कर्मों के मेल से विवाह करना और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावें वैसेही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे जो क्षत्रिय, राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम् ।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
१ ॥ मनु० ॥

अर्थः–(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और पशूनां, रक्षणम्) गाय आदि पशुओं

का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) व्याज का लेना (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना अन्न आदि की रक्षा खात और भूमि की परीक्षा जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका, ये गुण कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य, वैश्या । और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥ १ ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम् ।

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥ मनु० ॥

अर्थः-(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन जिसको पढ़ने से भी विद्या न आसके शरीर से पुष्ट सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हो वह शूद्र और शूद्रा है । इन गुण कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म स्वभाव हों तो अतिविशेष है ॥ १ ॥

यह संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे जिस २ पुरुष में

जिस २ वर्ण के गुण कर्म हों उस २ वर्ण का अधिकार देना ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीचे वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सक्ते हैं क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सक्ते हैं शूद्र को सेवा का अधिकार इस लिये है कि वह विद्या-रहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सक्ता किन्तु शरीर के काम सब कर सक्ता है इस प्रकार वर्णों को अपने२ अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है॥

(प्रश्न) क्या जिस की माता ब्राह्मणी पिता ब्राह्मण हो वह ब्राह्मण होता है और जिसके माता पिता अन्यवर्णस्थ हों उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सक्ता है? (उत्तर) हां बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी जैसे छांदोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातंग ऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे, अब भी जो उत्तम विद्या स्व-भाव वाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा (प्रश्न) भला जो रज वीर्य से शरीर हुआ है वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सक्ता

है ? (उत्तर) रजवीर्य्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

मनु० २ । २८ ॥

(स्वाध्यायेन) पढ़ने पढ़ाने (जपैः) विचार करने कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारण सहित पढ़ने पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादियज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है । क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते ? (उत्तर) मानते हैं । (प्रश्न) फिर क्यों रज वीर्य के योग से वर्ण व्यवस्था मानते हो? (उत्तर) मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं (प्रश्न) क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ? (उत्तर) नहीं परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं (प्रश्न) हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है इसमें क्या प्रमाण ? (उत्तर) यही प्रमाण है कि जो तुम पांच सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आजपर्यन्त की परम्परा मानते हैं देखो जिसका पिता

श्रेष्ठ वह पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो देखो मनु महाराज ने क्या कहा है :-

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहा।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥
मनु० ४।१७८ ॥

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों उस मार्ग से सन्तान भी चलें परन्तु (सताम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग पर चलें और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख नहीं होता इसको तुम मानते हो वा नहीं ? हां २ मानते हैं। और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं होसकती ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं। अवश्य चाहिये। जो ऐसा न माने उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे ! जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे ! नहीं २ किन्तु जो २ पुरुषों के उत्तम कर्म हों उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है। जो कोई रज वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो

कोई अपने वर्ण को छोड़ नीचे, अन्त्यज, अथवा कृश्चीन मुसलमान होगया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वेही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ हो के नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये (प्रश्न)

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬशूद्रो अजायत॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है। इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है इसलिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं इसीप्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते (उत्तर) इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं होसकते जो मुखआदि अङ्गवाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य पापों की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बाहू) "बाहुर्वै

जलं बाहुर्वै वीर्य्यम् " शतपथब्राह्मण । बल वीर्य्य का नाम बाहु है वह जिस में अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का ऊरू नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीच अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह शूद्र है । अन्यत्र शतपथब्राह्मणादि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है जैसे :-

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त इत्यादि ।

जिस से ये मुख्य हैं इस से मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन सङ्गत होता है अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख से उत्पन्न होना असम्भव है । जैसाकि बन्ध्या स्त्री आदि के पुत्र का विवाह होना ! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती जैसे मुख का आकार गोल माल है वैसही उनके शरीर का भी गोल माल मुखाकृति के समान होना चाहिये । क्षत्रियोंके शरीर भुजा के सदृश वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों का शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहियें ऐसा नहीं होता और जो कोई तुम से प्रश्न करेगा कि जो २ मुखादि से उत्पन्न हुए थे उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं क्योंकि जैसे सब लोग गर्भाशय

से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है वह सच्चा है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है जैसा :-

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥
मनु० १० । ६५ ॥

शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाववाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होजाय वैसेही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र होजाय वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी होजाता है । अर्थात् चारों वर्णों में जिस २ वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिनी जावे ॥

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

ये आपस्तम्ब के सूत्र हैं । धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे ।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे २ वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥ जैसे पुरुष जिस २ वर्ण के योग्य होता है वैसेही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये । इस से क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने २ गुण कर्म स्वभाव युक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी इस से किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी (प्रश्न) जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट होजाय तो उसके मा बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी होजायगा इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये ? (उत्तर) न किसी की सेवाका भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा क्योंकि उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये तभी अपने २ वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी ।

—:०:—

आश्रम विषयः ।

ब्रह्मचर्य्याश्रम् ।

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥

यह शतपथब्राह्मण का वचन है । वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य ! वह संतान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हितकरना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता इसलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" । धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तबतक सुशीलता का उपदेश करे ॥

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें । जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान प्रयत्न अर्थात् जैसे "प" इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अक्षरों को ठीक २ बोल सकना, मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न २ श्रवण होवे । जब वह कुछ २ बोलने और समझने लगे तब सुंदर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि

से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होती है इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें। जब पांच २ वर्ष के लड़का लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिन से अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे २ वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त्त के बहकाने में न आवें, और जो २ विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश करदें जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो। और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिये, इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था, ही में सन्तानों के हृदय में डालदें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको

आरोग्य, बुद्धि बल पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का सङ्ग विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट होजाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्याके ग्रहण वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं तभीतक तुमको विद्या ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये इसी प्रकार की अन्य २ शिक्षा भी माता और पिता करें इस लिये "मातृमान् पितृमान्" शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है अर्थात् जन्म से पांचवें वर्ष तक बालकों को माता ६ ठे वर्ष से ८ वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षाऔर विद्यादान करनेवाली हों वहां लड़के लड़कियों को भेजदें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुलमें भेजदें॥

आचर्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भ-मन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः ॥१॥ इयं समित्पृथवी

द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ २॥ ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचिक्रत् ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या ३ युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः । प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ११ सू० ५ ॥

संक्षेप से भाषार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञा पूर्वक समीप रखके तीन ३ रात्रिपर्यन्त*गृहाश्रमके प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उस के आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्यास्थापन करने के लिये उस को धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर आता है तब उस को देखने के लिये सब विद्वान् लोग सन्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥ १ ॥

---

* संस्कारविधिः में ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियम पूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढोत्साही होता है वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिन्हों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः) ४० वर्ष तक डाढ़ी मूछादि पञ्च केशों का धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है वह सब लोगों का संग्रह करके वारंवार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥ ३ ॥

वही राजा उत्तम होता है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षत सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्वान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवती हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है तभी प्रकाशमान होता उसमें सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वानी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठप्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्य्य कालः ।

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण ।

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥ पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानिचतुर्विंꣳशति-र्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीद ꣳसर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यं-दिन ꣳसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां व-सूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य-गदो ह भवति ॥ ३ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वा-रिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिन ꣳसवनं चतुश्च-

त्वारिंꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ४ ॥ तं चेदेतस्मिन वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहम्प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ५ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥ ६ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को पांच वर्ष की आयु तक माता पांच से ८ आठ तक पिता ८ आठ से ४८ अड़तालीस ४४ चवालीस ४० चालीस ३६ छत्तीस ३० तीस तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस २२ बाईस २०

बीस १८ अठारह अथवा १६ सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अति चतुर होते हैं ॥ १ ॥ यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इसको आयु बल आदि से सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य पुरुष और १६ सोलह वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्य्याश्रम यथावत् पूर्ण जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे वह प्रातः सवन कहाता है जिससे इस मनुष्य देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं जो बलवान होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥ जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषय भोग करने का उपदेश करे उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोग रूप सब शुभ गुण कर्म और स्वभाव के साधन करनेवाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं और सब आश्रमों के मूल सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोग रहित होता है इस

लिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥ ३ ॥ और जो ४४ चवालीस वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्र रूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥ यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषय सम्बन्धी भी अधिक होता है वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि संसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुखप्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूंगा ५ ॥ अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जैसा कि ४८ अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य्य से पूर्णविद्या, पूर्णबल, पूर्णप्रज्ञा, पूर्णशुभगुण, कर्म, स्वभाव युक्त सूर्य्यवत्, प्रकाशमान् होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥ यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो तुम्हारे दुर्गन्ध रूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा इसको पूर्ण करके सर्व

रोगों से रहित सर्वविद्यादि शुभ गुण कर्म स्वभाव सहित होऊंगा इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करें जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्द युक्त कर सकूं ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारीतु षोडशे । समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् १

यह धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।

अर्थः—इस मनुष्य देह की ४ चार अवस्था हैं एक वृद्धिः दूसरी यौवन तीसरी सम्पूर्णता चौथी किञ्चित्परिहाणि करने हारी अवस्था है इनमें १६ सोलहवें वर्ष आरंभ २५ पच्चीसवें वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा दण्ड से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्त्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रखेगा वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी परस्त्री त्यागी

एक स्त्री व्रत गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानि रूप अवस्था है यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा वह राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित होजायगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ॥

अब इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोलहवें वर्ष में होजाता है यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ सोलह वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्य वाले होते हैं इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ सत्रहवें वर्ष की स्त्री और ३० तीस वर्ष का पुरुष १८ अठारह वर्ष की स्त्री और ३६ छत्तीस वर्ष का पुरुष १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री ३८ अड़तीस वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इसको मध्यम समय जानो और जो २० बीस और २१ इक्कीस २२ बाईस वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री और ४० चालीस ४२ बयालीस ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है हे ब्रह्मचारिन् इन बातों को तू ध्यान में रख जो कि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगी जो मनुष्य अपने सन्तान कुल

सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ॥

कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग) हाथ, पग, वाणी ये १० दश इन्द्रिय शरीर में हैं ॥ १ ॥ इनमें कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥ ग्यारहवां इन्द्रिय मन है वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ४ ॥ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी होजाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ जिसका ब्राह्मणपन (सन्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (सन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा, स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं होसकते इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् २ पीड़ा देता हुआ अपने सब

प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥ ७ ॥ बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों को न करता हुआ और केवल नियमों का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित होजाता है इसलिये यम सेवन पूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥ अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्यसेवन करता है उसकी अवस्था, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥ अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देने वाला विद्या पढ़ा विद्या विचार में निपुण है वह पिता स्थानीय होता है क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्य्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद विवाद में उत्तर देने वाला अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥ उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाय केश पक जावें किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम संपन्न

होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥ जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं इसकारण ब्रह्मचर्य्याश्र संपन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥ ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान उपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥ द्विजोत्तम अर्थात् ब्रह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्य्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जनको वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है इस से ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे ॥ १५ ॥ जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त होजाता है इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ॥ १६ ॥ जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरु जनों में पाई हुई विद्या है उसको प्राप्त होता है इसकारण ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उनसे सुने और वेद पढ़े ॥ १७ ॥ उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री जन का ग्रहण करे यह नीति है इससे गृहस्थाश्रम से पूर्व २ ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े उत्तम धर्म सीखे और

ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि १८ ॥ विष से भी अमृत का ग्रहण करना बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहियें इसकारण ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर देश २ पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥ १९ ॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । येके चास्मच्छ्रेयाꣳसोब्राह्मणाः तेषांत्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ॥ १ ॥ तैत्तिरी० प्रपा० ७ अनु० ११ ॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ २ ॥ तैतरी० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य जो आनन्दित पाप रहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरणरहित न्यायधर्माचरणसहित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तूं किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य जो तेरे माता पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्म युक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तूं कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उनका आचरण कभी मत कर हे ब्रह्मचारिन् जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप

बैठना संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥ हे शिष्य तू जो यथार्थ का ग्रहण सत्यमानना सत्यबोलना वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना अपने मन को धर्माचरण में न जाने देना श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना क्रोधादि के त्याग से शान्त रहिना विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना अग्निहोत्रादि और विद्वानों का सङ्ग कर जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्य आदि लोकों में पदार्थ हैं उन का यथा शक्ति ज्ञानकर और योगाभ्यास प्राणायाम एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना कर ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्या० । दमश्च० स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यबचाराथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ ३ ॥ तैत्तिरी० प्रपा० ७ । अनु० ९ ॥

अर्थ :—हे ब्रह्मचारिन् तू सत्य धारण कर पढ़ और पढ़ाया कर सत्योपदेश करना कभी मत छोड़ सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष शोकादि छोड़ प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे में चला विद्या का ग्रहण कर और कराया कर ।

अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवन पूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर, सत्यवादी होना तप सत्यवचा राथीतर आचार्य, न्यायाचरण में कष्ट सहना तप नित्य पौरुशिष्टि आचार्य और धर्म में चलके पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाकोमौद्गल्यः आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे ॥

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेष कर राजा इतर क्षत्रिय वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं होसकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत्परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फंस जाते हैं और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ पर चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते, और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण

चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं वे कभी भिक्षावृद्धि नहीं करते इसलिये वे विद्या व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्ड रूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सक्ता। इस से क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं इसलिये सब वर्णों के स्त्री पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये। अब जो २ पढ़ना पढ़ाना हो वह २ अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है परीक्षा पांच प्रकार से होती है। एक जो २ ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह २ सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। दूसरी जो २ सृष्टिक्रम से अनुकूल वह वह सत्य और जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह सब असत्य है जैसे कोई कहे कि बिना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से असत्य है। तीसरी "आप्त" अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का सङ्ग उपदेश के अनुकूल है वह २ ग्राह्य और जो २ विरुद्ध वह २ अग्राह्य है। चौथी अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसेही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा। और पांचवीं आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव॥

जो विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का सङ्ग दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वैश्यागमनादि, बाल्यवस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह होजाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना, राजा माता पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अति जागरण करना, पढ़ने पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य, वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्यधन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता, पिता, अतिथि और आचार्य विद्वान् इनको सत्य मूर्त्ति मानकर सेवा सत्सङ्ग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला धारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या धर्म योग परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फंस के ब्रह्मचर्य्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं ॥

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्सङ्ग से हटा और अपने जाल में फंसा के

उनका तन मन धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् होजायेंगे तो हमारे पाखण्ड जाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन मन धन से प्रयत्न किया करें (प्रश्न) क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है :-

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः ।

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है (उत्तर) सब स्त्री और पुरुष अर्थात मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है । तुम कुआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की नहीं । और सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है :-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य । ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० अ० २६ । २ ॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चार वेदों की वाणी का (आ, वदानि) उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो । यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से

द्विजों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं (उत्तर) (ब्रह्मराजन्याभ्यां) इत्यादि देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अति शूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़ पढ़ा सुन सुना कर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। कहिये अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की! परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा वह नास्तिक कहावेगा क्योंकि "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेदों का निन्दक और न माननेवाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे! जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु चन्द्र, सूर्य्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं और जहां कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण :—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अथर्व० । कां० ११ । प्र० २४ । अ० ३ । मं० १८ ॥

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति, विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्य्येन) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवति होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे इसलिये स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये (प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें? (उत्तर) अवश्य देखो श्रौत्र सूत्रादि में:—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ।

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े । जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है । भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहै फिर सुख कहां? इसलिये जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर होसकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं होसकते ॥

देखो आर्य्यावर्त्त के राज पुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं? और युद्ध कर सकतीं! इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरन, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये क्योंकि इनके सीखे बिना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिस से घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहे शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना गणित विद्या के बिना सब का हिसाब समझना समझाना वेदादि शास्त्र विद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जानकर अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिये वे ही धन्यवादाई और कृतकृत्य है कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य उत्तम शिक्षा ओर विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट, मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें। यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करे उनता ही बढ़ता जाय अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और

दायभागी निजभाग लेते हैं और विद्या कोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता इस कोश की रक्षा और वृद्धि करनेवाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं ॥

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु० ७ । १५२ ॥

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहैं जबतक समावर्त्तन का समय न आवे तबतक विवाह न होने पावे ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥
मनु० ४ । २३३ ॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है । इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें । जिस देश में यथा योग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है ॥

-:०:-

गृहस्थाश्रम ।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥मनु० ३ । २ ॥

यथावत् ब्रह्मचर्य में आचार्यानुकूल वर्त्त कर धर्म से चारों, तीन, वा दो, अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितु ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥
मनु० ३ । ३ ॥

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म्म है उस से युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्या रूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करने वाला अपने पलङ्ग में बैठा हुआ शिष्य है आचार्यादि उसका प्रथम गोदान से सत्कार करें वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थिनी को भी कन्या को पिता गोदान से सत्कृत करे ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥
मनु० ३ । ४ ॥

गुरु की आज्ञा ले स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आ

के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षण युक्त कन्या से विवाह करे ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥
मनु० ३ । ५ ॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है । इसका यह प्रयोजन है कि :-

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।
शतपथ०

यह निश्चत बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है वैसे प्रत्यक्ष में नहीं जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो उसी कन्या से बर का विवाह होना चाहिये निकट और दूर विवाह करने में गुण यह हैं (१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते एक दूसरे के गुण दोष स्वभाव या बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता (२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने

में धातुओं के अदल बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती (३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री वा शुंठ्यादि औषधियों के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ पितृ कुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है (४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान पान बदलने से रोगरहित होता है वैसे ही दूरस्थों के विवाह होने में उत्तमता है (५) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर २ प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है निकटस्थ विवाह में नहीं (६) छठे—दूर २ देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है निकट विवाह होने में नहीं इसलिये :—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा । निरु० ३ । ४ ॥

कन्या का नाम दुहिता इसकारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है निकट रहने में नहीं (७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल में आवेगी तब २ इसको कुछ न कुछ देना ही होगा (८) आठवां—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने २ पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है इत्यादि

कारणों से पिता के एक गोत्र माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

मनु० ३। ६ ॥

चाहें कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग करदे :—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानिच ॥

मनु० ३। ७ ॥

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ, और गलितकुष्ठयुक्त हों उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटान्न पिङ्गलाम् ॥ मनु० ३। ८ ॥

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी

चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहिता, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करने हारी और न भूरे नेत्रवाली ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥
मनु० ३ । ९ ॥

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्रा आदि नक्षत्र नाम वाली, तुलसीआ, गेंदा, गुलाबी, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली, गङ्गा यमुना आदि नदी नामवाली, चांडाली आदि अन्त्यज नामवाली, विन्ध्या हिमालया, पार्वती, आदि पर्वत नामवाली, कोकिला, मैंना आदि पक्षी नामवाली नागी, भुजंगा आदि सर्प नामवाली, माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली और भीमकुंवारि, चण्डिका, काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥
मनु० ३ । १० ॥

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों विरुद्ध न हों, जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम केश और दांत युक्त और जिसके सब अङ्ग कोमल हों वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये (प्रश्न) विवाह का समय और प्रकार कौन सा अच्छा है (उत्तर) सोलहवें वर्ष से लेके चौवीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष

से लेके अड़तालीस वर्ष तक पुरुष का विवाहसमय उत्तम है इस में जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है । जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है । क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है । (प्रश्न)

अष्टावर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठा भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

ये श्लोक पाराशरी और शीघ्रबोध में लिखे हैं । अर्थ यह है कि—कन्या की आठवें वर्ष गौरी नवमें वर्ष रोहिणी दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा होती है ॥ १ ॥ दसवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को देख के उसके माता पिता और बड़ा भाई ये तीनों नरक में गिरते हैं । (उत्तर)

ब्रह्मोवाच

एकक्षणा भवेद्गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥

माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है। अर्थ जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे उतने समय को क्षण कहते हैं जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी दूसरे में रोहिणी तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला होजाती है ॥ १ ॥ उस रजस्वला को देख के उसी के माता, पिता भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥ २ ॥

(प्रश्न) ये श्लोक प्रमाण नहीं (उत्तर) क्यों प्रमाण नहीं जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते (प्रश्न) वाह २ पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते (उत्तर) वाह जी वाह क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते (प्रश्न) तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं क्योंकि सहस्रक्षण जन्मसमय ही में बीत जाते हैं वो विवाह कैसे हो सकता है और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता (उत्तर) जो हमारे श्लोक असम्भव हैं तो तुम्हारे भी असम्भव हैं क्योंकि आठ नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है। क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्य्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य्य परिपक्व शरीर बलिष्ठ स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलिष्ठ होने से सन्तान उत्तम होते हैं* जैसे आठवें वर्ष की कन्या की सन्तान

* उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में

उत्पत्ति का होना असम्भव है वैसे ही गौरी रोहिनी नाम देना भी अयुक्त है यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है और गौरी महादेव की स्त्री रोहिनी वसुदेव की स्त्री थी उसको तुम पौराणिक लोग मातृ समान मानते हो जब कन्या मात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उनमे विवाह करना कैसे संभव और धर्मयुक्त हो सकता है ! इस लिये तुम्हारे और हमारे दो २ श्लोक मिथ्या ही हैं क्योंकि जैसा हमने "ब्रह्मोवाच" करके श्लोक बना लिये हैं वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं इसलिये इन सब का प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो, देखो मनु में —

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विंदेत सदृशं पतिम् ॥
मनु० ९ । ९० ॥

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्षपर्यन्त पति का खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है इससे पूर्व नहीं ॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित ॥
मनु० ९ । ८९ ॥

मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमानगर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥१॥

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य नहीं है॥

(प्रश्न) विवाह माता पिता के अधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहे? (उत्तर) लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये क्यों

जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्वलन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तवालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥२॥
सुश्रुत शारीरस्थ अ० १० । श्लो० ४७ । ४८ ॥

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता॥ १॥

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो, इस कारण से अतिवाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भ स्थापन न करे॥ २॥

ऐसे २ शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःखभागी होते हैं।

कि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता पिता का नहीं क्योंकि जो उन में परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
मनु० ३। ६०॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है और जहां विरोध कलह होता है वहां दुःख दरिद्रता और निन्दा निवास करती है इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परंपरा से चली आती है वही विवाह उत्तम है, जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहैं तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इन का मेल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता॥

अत्र प्रमाणानि—सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शसन्ती मनसा सविता ददात्॥१॥ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥२॥

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभ गुण युक्त (वधूयुः) वधू की कामना करने हारा पति तथा वधू पति की कामना करने हारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाले (आस्ताम्) होवें ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरण-वत् सौन्दर्य गुण युक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्त्तन करने वाली वधू है उसको पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥ हे स्त्री और पुरुष मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो (मा, वियौष्टम्) इसी प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होवो (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है उसको प्राप्त होवो और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीति पूर्वक वास करो ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये

गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टा-यैषां भव ॥४॥ या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चोन्वस्यै संदत्ताथास्तं विपरेतन ॥५॥ आरोह तल्पं सुवनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ६ ॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष शोकादि से पृथक् रहनेहारी (गृहाणाम्) गृह कार्य्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुख युक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्वै) सासु के लिये (शम्भूः) सुख कर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुख पूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥ हे बधू तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥ ४ ॥ (याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) ज्वान स्त्रियां (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरती) बुड्ढी वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों वे (अपि) भी (अस्य) इस बधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्)

अपने २ घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें ॥ ५ ॥ हे वरानने तू (सुमनस्यमान) प्रसन्नचित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कांति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्र) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति, जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥ ६ ॥

प्रबुध्यस्व सुबुधाबुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ १३ ॥ सहृ-दयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १४ ॥

अर्थ :—हे पत्नी तू (शतशारदाय) शत वर्ष पर्य्यन्त (दीर्घा-युत्वाय) दीर्घ काल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि युक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घ काल पर्यन्त (आयु) जीवन (आसः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देने हारा परमात्मा (कृणोतु)

अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिस से तू और मैं सदा उन्नति शील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥ हे गृहस्थो मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही वर्त्तमान करो जिस से तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता संतान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं, जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्योऽन्यम्) एक दूसरे से (अभि, हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान् ॥ १५ ॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ १६ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (माता) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त (मन) वाला (अनुव्रता) अनुकूल आचरणयुक्त (पितु) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला (भवतु) होवे वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्ता करो जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्य गुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे

वैसे पति भी (शान्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥ हे गृहस्थो तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा, द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ॥ १६ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अर्थः—हे गृहस्थो मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक्भाव वाले नहीं होते (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम) अच्छे प्रकार चेताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े ब्रह्म धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥ १७ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तएत सध्रीचीनान्वः समनसस्कृणोमि ॥ १८ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि गुणयुक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरंधर होकर (चरंतः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन

धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा, वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को (एत) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक (संमनस) एक मत्यवाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुमको जो आज्ञा देता हूं इसको आलस्य छोड़कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ १९ ॥ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येक श्रुष्टीन्त्सं वननेन सर्वान् देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ २० ॥ अथर्व० कां० ३ । वर्ग० ३० । मं० ६ । ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो [वः] तुम्हारा [अन्नभागः] खान पान [सह] साथ हुआ करो [वः] तुम्हारे [समाने] एकसे [योक्त्रे] अश्वादि यान के जोते [सह] सङ्गी हों और तुमको मैं धर्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके [युनज्मि] नियुक्त करता हूं जैसे (आराः) चक्र के आरे [अभितः] चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि

आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्ति वाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥ १९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यो! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सहवर्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एक श्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवाइव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायं प्रातः) संध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता ॥ २१ ॥ सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥ २२ ॥ स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ २३ ॥

अर्थ)—हे स्त्री पुरुषो! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टा) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलने

हारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृता) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठता) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनं, लोकः) इस मनुष्य लोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्य्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ २४ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो तुम जो [ओजः] पराक्रम [च] और इस का सागग्री [तेज] तेजस्वीपन [च] और इसकी सामग्री [सहः] स्तुति निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन [च] और इस के साधन [बलञ्च] बल और इस के साधन [वाक्, च] सत्य प्रियवाणी और इसके अनुकूल व्यवहार [इन्द्रियञ्च] शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता [श्रीश्च] लक्ष्मी संपत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग [धर्मश्च] पक्षपात रहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन वा लक्षण हैं उनको तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्ता करो॥२४॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १५ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्त्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च ॥ २६ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्त्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ २७ ॥ अथर्व० कां० १२ । अ० ५ । व० । १-२ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो तुम को योग्य है कि [ब्रह्म,च] पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सब के उपकारक शम दमादि गुण युक्त ब्रह्मकुल [क्षत्रञ्च] विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रिय कुल [राष्ट्रञ्च] राज्य और उसका न्याय से पालन [विशश्च] उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति [त्विषिश्च] सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नती से [यशश्च] कीर्ति युक्त तथा इस के साधनों को प्राप्त हुआ करो [वर्चश्च] पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़न [द्रविणञ्च] द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥ हे स्त्री पुरुषो तुम अपना [आयुः] जीवन बढ़ाओ, [च] और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो [रूपञ्च] विषया-सक्ति, कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो [नाम, च] नामकरण के पृष्ठ ५९-६२ में लिखे प्रमाणों से शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी [कीर्तिश्च] सत्याचरण

प्रशंसा का धारण और गुणों में दोषारोपनरूप निन्दा को छोड़ दो [प्राणश्च] चिरकाल पर्यन्त जीवन का धारण और उसके युक्ताहार विहारादि साधन [अपानश्च] सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री [चक्षुश्च] प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान (श्रोत्रश्च) शब्द प्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥ हे गृहस्थ लोगो (पयश्च) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्यमानना और सत्यमनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्त्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा, च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी (पशवश्च) गाय आदि पशुओं की पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे

॥ य० अ० ४० । मं० २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं, समाः) १००सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे आलसी और

प्रमादी कभी न होवे (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटापनरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न, लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥ पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्न लिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें ॥ वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्यपशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥

गृहामा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥ य० । आ० । मं० ३१ । ४१॥

अर्थ :—हे स्त्री वा पुरुष मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा युक्त (स्याम्) होऊं (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु संबन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊं (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टि युक्त होऊं हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि)

रक्षा कीजिये हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये हे (अर्थ्य) अहिंसक दयालो स्वामिन् (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये वैसे हे नारि प्रशंसनीय गुण युक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥ हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो तुम विधि पूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से (मा, बिभीत) मत डरो (मा, वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ (ऊर्ज्जम्) अन्न, पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्न पानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधा) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझको और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ, एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं इसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ॥

एषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ ४ ॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय

वः शान्त्ये प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳशंयोः शंयोः ५॥ यजु० अ० ३। मं० ४२। ४३॥

अर्थः—हे गृहस्थो! (प्रवसन्) परदेश जो गया हुआ मनुष्य (एषाम्) इनका (अध्येति) स्मरण करता है (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) (सौमनसः) प्रीति होती है उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उप, ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें वैसे तुम गृहस्थ और हम सन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें॥ ४॥ हे गृहस्थो (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूतः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देने वाले पशु (उपहूतः) समीपस्थ हों (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवें हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहस्थाश्रम में (वः) तुमम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्तयै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्यान (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें॥ ५॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ मनु० ३ । ४५ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् । ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ मनु० ३ । ५० ॥

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न निषिद्ध रात्रियों में स्त्री से पृथक् रहता और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।१
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥
मनु० ३ । श्लो० ६०—६२ ॥

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं । जहां कलह होता है वहां दौर्भाग्य और दारिद्रय स्थिर होता है ॥ १ ॥ जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता

२ ॥ जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता उस की अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक होजाता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।१।
यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तुन पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ।२
शोचन्तिजामयो यत्र विनश्यत्याशुतत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ३ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ४ ॥
मनु० ३ । श्लो० ५५—५७—५६ ॥

पिता, भाई, पति और देवर को योग्य है कि इनको सत्कार पूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें जिनको बहुत कल्यान की इच्छा हो वे ऐसे करें ॥ १ ॥ जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं ॥ २ ॥ जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ३ ॥ इस लिये ऐश्वर्य की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण वस्त्र और

भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥ ४ ॥ यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि "पूजा" शब्द का अर्थ सत्कार है। और दिन रात में जब २ प्रथम मिलें वा पृथक् हों तब २ प्रीतिपूर्वक "नमस्ते" एक दूसरे से करें ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥
मनु० ५। १५० ॥

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घरके कामों में चतुराई युक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार न रहे अर्थात् यथायोग्य खर्च करे और सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो ओषधिरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे जो २ व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे घरके नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे घरके किसी काम को बिगड़ने न देवे। (प्रश्न) गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है? (उत्तर) अपने २ कर्त्तव्य कर्मों में सब बड़े हैं परन्तु :—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
१ ॥ मनु० ६। १० ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ २
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।

गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥३॥
स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥
४॥ मनु० ३॥ ७६—७९॥

जैसे नदी और बड़े २ नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जबतक समुद्र को प्राप्त नहीं होते वैसे गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है। इसलिये मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है उसको अच्छे प्रकार धारण करे। इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य्य वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों इस लिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है॥

—:०:—

वानप्रस्थ आश्रम ।

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ शत० कां०१४॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके सन्यासी होवें अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ॥

एवं गृहाश्रमेस्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

इसप्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्य्य पूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में बसे ॥ १
परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली होजाय और लड़के का लड़का भी होगया हो तब वन में जाके बसे ॥ २

सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके बन में निवास करे ॥ ३ ॥ साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके बसे ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सामान आदि अन्न सुन्दर २ शाक, मूल फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पंच महायज्ञों को करे और उसी से अतिथि सेवा और आप भी निर्वाह करे ॥ ५ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ १ ॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २ ॥
मनु० ६ । ८ । २६ ॥

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नित्ययुक्त जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का दमनशील विद्यादि का दान देने हारा और सब पर दयालु किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे ॥ १ ॥ शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी रहे अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय चेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में बसे ॥ २ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
मुण्ड० ॥ खं० २ । मं० ११ ॥

जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में बसते हैं वे जहां नाशरहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥
यजु० । २० । मं० २४ ॥

वानप्रस्थ को उचित है कि मैं अग्नि में होमकर दीक्षित हो कर व्रत सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या सत्सङ्ग योगाभ्यास सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे । पश्चात् जब संन्यास ग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे फिर संन्यास ग्रहण करे ॥ इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः ॥

संन्यास आश्रम ।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥
मनु० ६ । ३३ ॥

इस प्रकार बन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्य्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में सङ्गों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी होजावे (प्रश्न) गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे उसको

पाप होता है वा नहीं ? (उत्तर) होता है और नहीं भी होता (प्रश्न) यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ? (उत्तर) दो प्रकार की नहीं क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फंसे वह महापापी और जो न फंसे वह महा पुण्यात्मा सत्पुरुष है ॥

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत ॥

ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं । जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे पहिले संन्यास का पक्षाक्रम कहा और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ करे गृहाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे और तृतीयपक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों में भी "यतयः, ब्राह्मणस्य विजानतः" इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है परन्तु :-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
कठ० । वल्ली २ । मं० २३ ॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं जिसको शान्ति नहीं जिस का आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता इसलिये :-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ कठ० । बल्ली ३ । मं० १३ ॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मनको अधर्म से रोक के उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुं० खं० २ मं० १२ ॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे परन्तु सदा इनका सङ्ग छोड़ देवे कि जो :-

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ १ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था

इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ २ ॥ मुं० । खं० २ । मं० ८ । ९ ॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे अपने को धीर और पण्डित मानते हैं वे नीच गति को जाने हारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं ॥ १ ॥ जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले बालबुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते वे आतुर होके जन्म मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं ॥ २ ॥ इसलिये :-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ मुं० । खं० २ । मं० ६ ॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूर्ण हो जाती है तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं मुक्ति के बिना दुःख का नाश नहीं होता क्योंकि :-

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहति-

रस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥
छान्दो० । प्र० ८ । खं० १२ ॥

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीर रहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उस को सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता इसलिये :—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ॥ शत० । कां० १४ । प्र० ५ । ब्रा० २ । कं० १ ॥

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग होके सन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ यजुर्वेदब्राह्मणे ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्यब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २
मनु० ६ । ३८ । ३६ ॥

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात्

यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखादि चिन्हों को छोड़ आहवनी आदि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर सन्यासी होजावे ॥ १ । २ ॥ जो सब भूत प्राणि मात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्द स्वरूप लोक प्राप्त होता है । (प्रश्न) संन्यासियों का क्या धर्म है ? (उत्तर) धर्म तो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है ॥

जब संन्यासी मार्ग में चले । तब इधर उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले । सदा वस्त्र से छान के जल पिये निरन्तर सत्य ही बोले सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ १ ॥ जब कहीं उपदेश वा संवा-दादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख का, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥ २ ॥ अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर अपेक्षा रहित मद्य मांसादि वर्जित होकर आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार

में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहै ॥ ३ ॥ केश, नख, डाढ़ी, मूछ को छेदन करवावे सुन्दरपात्र दण्ड और कुसुम्भादि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥ ४ ॥ इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ५ ॥ कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्म्मात्मा और अन्यों को धर्म्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मनमें निश्चित जाने की दण्ड कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिन्ह धारण धर्म के कारण नहीं हैं सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥ ६ ॥ क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है तद्यपि बिना उसके डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं होसकता ॥ ७ ॥ इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकार पूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे यही संन्यासी का परम तप है ॥ ८ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट होजाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से सङ्गदोष, ध्यान से

अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥ १० ॥ इसी ध्यान योग से जो अयोगी अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥ ११ ॥ सब भूतों से निर्वैर इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्धकर और करा सक्ते हैं अन्य नहीं ॥ १२ ॥ जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ इस लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥ १४ ॥ पहिला लक्षण—(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) निन्दा स्तुति मानाऽपमान हानि लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रखना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्तकर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरी त्याग अर्थात् बिना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी और इस को छोड़देना साहूकारी कहाती है। पांचवां—(शौच) राग द्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्म्माचरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म्म ही में सदा चलाना।

सातवां—(धीः) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का संग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन सत्पुरुषों का संग योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना। आठवां (विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में जैसा मन में वैसा वाणी में जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना वैसा ही बोलना और वैसा ही करना। तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म का लक्षण है। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और इस वेदोक्त धर्म ही में आप चलना औरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार से धीरे २ सब संग दोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर सन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों का सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥

(प्रश्न) संन्यासग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ? (उत्तर) ब्राह्मण ही को अधिकार है क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकार प्रिय मनुष्य है उसी का ब्राह्मण नाम है बिना पूर्ण विद्या के धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार

का विशेष उपकार नहीं होसक्ता इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं यह मनु का प्रमाण भी है :—

एष वाऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मान् निबोधत॥
मनु० ६। ९७॥

यह मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियों! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है यहां वर्त्तमान में पुण्य स्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है इसके आगे राजाओं का धर्म मुझ से सुनो। इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्य्याश्रम है (प्रश्न) संन्यास ग्रहण की आवश्यकता क्या है (उत्तर) जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्य्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़ कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर

जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता (प्रश्न) संन्यास ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है क्योंकि ईश्वरकी अभिप्रायमनुष्योंकी बढ़तीकरने में है जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उससे सन्तान ही न होंगे जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और सब मनुष्य करें तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जायगा (उत्तर) अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते अथवा होकर शीघ्र नष्ट होजाते हैं फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करनेवाला हुआ जो तुम कहो कि " यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः " यह किसी कवी का वचन है, अर्थ—जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो तो इसमें क्या दोष ! अर्थात् कोई भी नहीं, तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है जब संन्यासी एक वेदोक्त धर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा और सब मनुष्य संन्यास ग्रहण कर ही नहीं सकते क्योंकि स० की विषयसक्ति कभी नहीं छूट सकेगी जो २ सन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे वह सब जानों संन्यासी के पुत्र तुल्य हैं (प्रश्न) संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्तव्य नहीं अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना ? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसाही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है

तुम को पाप पुण्य नहीं लगता क्योंकि शीतोष्ण शरीर का, क्षुधा तृषा प्राण का और सुख दुःख मन का धर्म है जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं इसलिये इसमें फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप पुण्य होता है वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है अब हम किस की बात सच्ची और किसकी झूठ मानें! (उत्तर) क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं? देखो "वैदकैश्चैव कर्मभि" मनु जी ने वैदिक कर्म जो धर्म युक्त सत्य कर्म है संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है क्या भोजन छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे? जो वे कर्म नहीं छूट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होंगे? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे? जैसे आंख से देखना कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म्म किया जाता है वह सब आत्मा ही का और उसके फल का भोगनेवाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं वे अविद्या निद्रा में सोते हैं क्योंकि जीव अल्प अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है ब्रह्मनित्य, शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक

सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है (प्रश्न) संन्यासी सर्वकर्म्मविनाशी और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते यह बात सच्ची है वा नहीं (उत्तर) नहीं "सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्म्माणि येन स संन्यासः स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी" जो ब्रह्म और जिससे दुष्ट कर्म्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहाता है इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्म्मों का नाश करनेवाला संन्यासी कहाता है (प्रश्न) अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है ? (उत्तर) सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुने परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं हां जो ब्राह्मण हैं उनका यह काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करें जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सक्ता जब ब्राह्मण वेद विरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है । इसलिये संन्यासी का होना उचित है (प्रश्न) "एकरात्रिं वसेद् ग्रामे" इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एक रात्रि मात्र रहना अधिक निवास न करना चाहिये (उत्तर) यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है राग द्वेष भी अधिक होता है परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से

होता हो तो रहे जैसे जनक राजा के यहां चार २ महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और "एकत्र न रहना" यह बात आज कल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा। (प्रश्न):—

यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्॥

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता नरक को प्राप्त होवे (उत्तर) यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी संप्रदायी और स्वार्थसिद्धिवाले पौराणिकों की कल्पी हुई है। क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते रहेंगे जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ दोष नहीं हो सकता देखो:—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्।
मनु० अ० ११। ६॥

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवे और वह श्लोक भी अनर्थक है क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायगा (प्रश्न) यह पण्डित जी

इस का पाठ बोलते भूल गये यह ऐसा है कि "यतिहस्ते धनं दद्यात्" अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है वह नरक में जाता है (उत्तर) यह भी वचन अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नर्क को जाय तो पगपर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो रोगादि से पीड़ित और मोहित भी होजायगा परन्तु जो विद्वान् है वह अयुक्त व्यवहार कार्य न करेगा न मोह में फंसेगा क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोगकर वा सब देख चुका है और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फंसता (प्रश्न) लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे तो उसके पितर भाग जायें और नर्क में गिरें (उत्तर) प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचाना ही असम्भव वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे वहां यह मृतक श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखंड दूर भाग जायगा॥

(प्रश्न) जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यास लेवेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है इसलिये गृहा-

श्रम वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय तभी संन्यास लेना अच्छा है (उत्तर) जो निर्वाह न कर सके इंद्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उसका वीर्य्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय होजाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या धर्म वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवार न करे। जैसे पंचशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनाधिकारी संन्यासग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा जैसे "सम्राट्" चक्रवर्ती राजा होता है वैसे "परिव्राट्" संन्यासी होता है प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्रपूजित होताहै

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥

यह चाणक्यनीतिशास्त्र का श्लोक है—विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ और वेदादि

सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इस से संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश शंका समाधान वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें (प्रश्न) जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं? (उत्तर) नहीं क्योंकि उन में संन्यास का एक भी लक्षण नहीं वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते मिथ्या प्रपंच में फंसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने २ मत में फंसाते हैं सुधार करना तो दूर रहा उसके बदले में संसार को बहकाकर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये इनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं! इस में कुछ सन्देह नहीं। जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं॥

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशविषयः ।

सर्व तन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न होसके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मतवाले के भ्रमाये हुए जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, परोपाकरक, पक्षपातरहित, विद्वान् मानते हैं वही सब को मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वर रचित पदार्थ हैं जिनको कि मैं (स्वामी दयानन्द) भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं। मैं अपना मन्तव्य उसको जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है, मेरा नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छोड़वाना मुझ को अभिष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में धर्मयुक्त चाल चलन है उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूं क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान्

से भी न डरे और धर्म्मात्मा निर्बल से डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्म्मात्माओं कि चाहे वे महा अनाथ निर्बल गुण रहित क्यों न हों उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहांतक होसके वहांतक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें इस काम में चाहे उनको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इस में श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिं जी आदि ने श्लोक कहे हैं उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूं :—

निन्दतु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १ ॥ भर्तृहरिः ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ २ ॥ महाभारते ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ ३ ॥ मनु० ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्थाः विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ४ ॥

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् । नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥ ५ ॥ उ० नि० ॥

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है । अब मैं भिन्न २ पदार्थों को जैसा २ मानता हूं उन २ का वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने २ प्रकरण में कर दिया है इनमें से :—

१–प्रथम " ईश्वर " कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फल दाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं ॥

२–चारों "वेदों" (विद्याधर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं वे स्वयंप्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और चारों वेदों के ब्राह्मण छः अङ्ग, छः उपांग, चार उपवेद और ११२७

(ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं ॥

३-जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको "धर्म" और जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है उसको "अधर्म" मानता हूं ॥

४-जो इच्छा द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को जीव मानता हूं ॥

५-जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था न है न होगा और न कभी एक था न है न होगा इसीप्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूं ॥

६-"अनादि पदार्थ" तीन हैं एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं जो नित्यपदार्थ हैं उनके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य हैं ॥

७-"प्रवाह से अनादि" जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं ॥

८-"सृष्टि" उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नाना रूप बनना ॥

९—"सृष्टि का प्रयोजन" यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उसने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्म्मों का यथावत् भोग करना आदि भी॥

१०—"सृष्टि सकर्तृक" है इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य वीजादिस्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का "कर्त्ता" अवश्य है॥

११—"बन्ध" सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो २ पापकर्म ईश्वर भिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं इसीलिये यह "बन्ध" है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है॥

१२—"मुक्ति" अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्ध रहित सर्व्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्य्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना॥

१३—"मुक्ति के साधन" ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का सङ्ग, सत्यविद्या सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं॥

१४—"अर्थ" वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं॥

१५—"काम" वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय ॥

१६—"वर्णाश्रम" गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं ॥

१७—"राजा" उसी को कहते हैं जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान पक्षपात रहित न्यायधर्म का सेवी प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे ॥

१८—प्रजा उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राज विद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते ॥

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण कर अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे सो "न्यायकारी" है उसको मैं भी ठीक मानता हूं ॥

२०—"देव" विद्वानों को और अविद्वानों को "असुर" पापियों को "राक्षस" अनाचारियों को "पिशाच" मानता हूं ॥

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति, का सत्कार करना "देवपूजा" कहाती है इससे विपरीत अदेव पूजा। इनकी मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं ॥

२२—"शिक्षा" जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रि-

यतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं ॥

२३–" पुराण " जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं अन्य भागवतादि को नहीं ॥

२४–" तीर्थ " जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्सङ्ग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूं इतर जल स्थलादि को नहीं ॥

२५–" पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा " इसलिये है कि जिस से संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिस के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसीसे प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है ॥

२६–" मनुष्य " को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख-दुःख हानि लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं ॥

२७–" संस्कार " उसको कहते हैं कि जिससे शरीर मन और आत्मा उत्तम होवें वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है इसको कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये ॥

२८–" यज्ञ " उसको कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्रादि जिन से वायु वृष्टि जल औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूं ॥

२९–जैसे "आर्य" श्रेष्ठ और "दस्यु" दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसेही मैं भी मानता हूं ॥

३०–"आर्य्यावर्त्त" देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है इन चारों के बीच में जितना देश है उसको "आर्य्यावर्त्त" कहते हैं और जो इसमें सदा रहते हैं उन को भी आर्य्य कहते हैं ॥

३१–जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है ॥

३२–"शिष्य" उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या के ग्रहण करने योग्य धर्म्मात्मा विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है ॥

३३–"गुरु" माता पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और जो असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है ॥

३४–"पुरोहित" जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे ॥

३५–"उपाध्याय" जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो ॥

३६–"शिष्टाचार" जोधर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है ॥

३७–प्रत्यक्षादि "आठ प्रमाणों" को भी मानता हूं ॥

३८–"आप्त" जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को "आप्त" कहता हूं ॥

३९–"परीक्षा" पांच प्रकार की है इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुणकर्म स्वभाव और वेद विद्या, दूसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्या असत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये ॥

४०–"परोपकार" जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें उसके करने को परोपकार कहता हूं ॥

४१–"स्वतन्त्र" "परतन्त्र" जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है ॥

४२–"स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है ॥

४३–"नर्क" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है ॥

४४–"जन्म" जो शरीर धारणकर प्रकट होना सो पूर्व पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं ॥

४५–शरीर के संयोग का नाम "जन्म" और वियोगमात्र को "मृत्यु" कहते हैं ॥

४६–"विवाह" जो नियम पूर्वक प्रसिद्ध से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना वह "विवाह" कहाता है ॥

४७–"नियोग" विवाह के पश्चात् पति के मरजाने आदि

वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री, वा आपत् काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना ॥

४८—"स्तुति" गुण कीर्त्तन श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं ॥

४९—"प्रार्थना" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के संबंध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिये ईश्वर से याचन' करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है ॥

५०—"उपासना" जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं से अपने करना ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ॥

५१.—"सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना" जो २ गुण परमेश्वर में है उनसे युक्त और जो २ गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण करदेना सगुणनिर्गुणोपासना कहाती है ॥

ये संक्षेप से सबसिद्धान्त दिखला दिये हैं इनकी विशेष व्याख्या मेरे "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकरण २ में है तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि ग्रन्थों में लिखी है अर्थात् जो जो बात सब के सामने माननीय हैं उनको मानना अर्थात् सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे

सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तरके परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं इस बात को काट सब सत्य का प्रचारकर सबको ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा, सहाय और आप्त जनों की सहानुभूति से " यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त होजावे " जिस से सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष को सिद्ध करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है ॥

। इति ।